

गीर्वाण

गुताई आरस्त १६८७

No. 05764

2043

आचार्य तर्कविषयाक

वर्ष १७ अंक ३-४

...तथा ... अथ जिज्ञासुः आचार्योः ॥ अथ किं ...
 ... वाचयन्तीत्यत आह ॥ ...
 ... गुरु, कथारिणोः कृत्वो न ...
 ... अर्थमेव केवलं ...
 ... प्रथमस्तदा बहुव्यप्रत्वाद्योचिता-
 ... एकाप्रतयाऽपि को गुण इत्यत आह ।
 ... चिन्तयतस्सुप्रार्थस्य तत्र स
 ... तया तीर्थकरानुकृतिरथ ...
 ... त्रकृतो जगवन्तः किंवायोः ...
 ... गणतनिहुः ...
 ... वर्तमानास्तीर्थकरानुसारिणो
 ... प्रवृत्तामाचार्याणां जवन्ति
 ... साधवमप्युदजायन्ते
 ... वर्तमानस्य लोकं राक्ष इव
 ... च प्रवचनप्रभावना तथा
 ... तृतामाज्ञा ययोक्तप्रकारेण म-
 ... नित्यस्मात् हेतुकत्रापात् गु
 ... न कृतक्रमोक्तस्तेन हि सा
 ... सूत्रमध्यापितास्ततः क्रमो-
 ... वाचयति ॥ उक्तमाचार्यस्वरूपम् ॥ व्य०

... जज्ञणमाचार्यस्य ॥
 ... एवं संजमपययसंगह
 ... आयससमयपरसमयकु-
 ... अद्वहृगचित्त
 ... समरः जयविष्णुमुक्तं
 ... यवविरहितं णिममं
 ... इदुखमाणा अयमा
 ... चरित्तं दसविह
 ... अणुवत्तं तद् उवायं च ॥ १६
 ... जानाति यतः ...
 ... जज्ञा मत्ता ।
 ... उवायं च ॥ १६
 ... जानाति यतः ...

कोश के श्रमण/होश के श्रमण

कोश के श्रमण बहुत बार मिले हैं
होश के श्रमण होते विरले हैं
और उस समता से क्या प्रयोजन ?
जिसमें इतनी भी क्षमता नहीं है

जो समय पर
भयभीत को अभय दे सके
श्रय-रीत को आश्रय दे सके
यह कैसी विडम्बना है ?

कलश कहता है स्वर्ण का
भवभीत हुए बिना
श्रमण का भेष धारण कर
अभय का हाथ उठा कर
शरणागत को आशीष देने की
अपेक्षा

अन्याय-मार्ग के अनुसरण करने वाले
रावण-जैसे शत्रुओं पर
रणांगण में कूद कर
राम-जैसे श्रमशीलों का हाथ उठाना ही
कलयुग में सतयुग ला सकता है
धरती पर स्वर्ग उतार ला सकता है ।

ऐसे करमहीन कंगाल के
लाल-लाल गाल को
पागल-से-पागल शृगाल भी
खाने की बात तो दूर रही
छूना भी नहीं चाहेगा ।
इस पर भी, अभी कलश का उबाल
शान्त नहीं हुआ
खदबद-खदबद खिचड़ी पकती ही रही
और संत के नाम पर—
और आक्रोश—

कौन कहता है उसके पास समता थी ?
थी पक्षपात की मूर्ति निरी वह
समता का प्रदर्शन भी
दस प्रतिशत नहीं रहा
समता का दर्शन तो दूर की बात है ।

सिद्धिचर

विचार-मासिक

सिद्धिचर की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

आचार्य लघुविशेषांक

वर्ष १७; अंक ३-४; जुलाई-अगस्त १९८७
आषाढ-श्रावण वि. सं. २०४४; वी. नि. सं. २५१४

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया
छायांकन : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये
प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये
आजीवन : तीन सौ रुपये
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटर, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

क्या / कहाँ

कोश के श्रमण/होश के श्रमण (कविता)

—आचार्य विद्यासागर आव. २

अ-यथार्थ साधु

—संपादकीय ३

आचार्य : प्रतिक्रमण-की-प्रक्रिया-में अस्वच्छताएँ बाहर फेंकता समंदर

—प्रलयंकर ९

किताबी ज्ञान से गाड़ी नहीं चल सकती, चरित्र चाहिये (बातचीत)

—आचार्य विद्यानन्दजी/डॉ. नेमीचन्द जैन १७

आचार्यत्व की सात सीढ़ियाँ (कविताएँ)

—दिनकर सोनवलकर ३०

तुम हो एक आम आदमी (कविता)

—डॉ. रघुनन्दन चिले ३५

बहुत बढ़ जाते हैं जब (कविता)

—वीरेन्द्र प्रधान ३६

आचार्य शब्द-कोश ४१

भगवान् महावीर और महात्मा गाँधी

—डॉ. रामजी सिंह ५३

आलू छोड़ो, मूली छोड़ो/कपाय छोड़ो, क्रोध छोड़ो (खत : जो अन्तिम नहीं है)

—गणेश ललवानी ५७

क्रफ़न के नीचे ढँके लोग

—सुरेश सरल ५९

समाधान : डॉ. अनिलकुमार जैन के प्रश्नों का (प्रतिक्रिया)

—मुनि नन्दीघोष विजय ६३

क़सौटी (पुस्तक-समीक्षा) ७२

पत्र-पत्रांश ७३

समाचार-परिशिष्ट ८३

दीक्षा के अयोग्य आव. ३

चर्षों को मत गिनो आव. ४

आवरण / 'अभिधान राजेन्द्र कोश' का एक पृष्ठ

अ-यथार्थ साधु

साधु और अ-साधु के बीच का अन्तर बहुत स्पष्ट है। जिसके उच्चार और आचार में फर्क न हो वह साधु, और जिसके शब्द और आचार के बीच खाई हो वह अ-साधु। 'आचार्य' शब्द तो और अधिक स्पष्ट है; उसका अस्तित्व ही आचार-प्रधान है। जो जैसा कहता हो वैसा करता हो और जैसा करता हो वैसा ही उसके शब्दों में-से छलकता हो वह है आचार्य। आचार्य का एक-एक पग मिसाल बनता है। वह समाज और शिष्य-समूह के लिए आदर्श होता है। जैसा वह करता है, उसे प्रायः समाज और शिष्य-समुदाय तब तक आँख मूंद कर मानता जाता है, जब तक उन्हें धोखा नहीं हो जाता; किन्तु जब वे देखते हैं कि यह व्यक्ति जो कर/कह रहा है उसमें फर्क है तब उनकी आस्थाएँ और विश्वास गड़बड़ा जाते हैं और वे खोजने लगते हैं कि असंतुलन और स्खलन कहाँ हैं? आज स्थिति ऐसी ही कुछ है, अतः हमें चाहिये कि हम सारे हालातों का बहुत स्पष्ट जायजा लें और पता लगायें कि ऐसी कौन-सी कमजोरियाँ और सुस्तियाँ चतुःसंघ में आ गयी हैं कि उसमें-से बदबू आने लगी है।

इस अंक का मकसद उन कसौटियों को सामने लाना है, जो सदियों तक पकती/विकसित होती रही हैं और जिन्हें अनुभवदी आचार्यों ने अपने आचरण और

तप से सींचा है। 'आचार्य' क्या होता है? कैसा होता है? उसके क्या कर्तव्य बनते हैं? उसके क्या दायित्व हैं? उसे समाज के, और अपने शिष्य-समुदाय के साथ कैसा सलूक करना चाहिये? उसे आत्महित और लोकहित के बीच किस तरह का समायोजन करना चाहिये? इत्यादि तथ्यों की सदियों तक समीक्षा हुई है और तब कहीं जा कर वे सुनिश्चित हुए हैं। इसी समुद्र-मन्यन में से प्रकट हुआ है आचार्य का व्यक्तित्व, उसका अस्मित्व।

कुछ लोग कह सकते हैं कि भगवान् महावीर ने साधुओं के लिए जो/जैसा निर्धारित किया था, वह/वैसा आज तक चला आ रहा है—उसमें रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। माना, 'आग गर्म होती है' जैसे मौलिक उसूल/निष्कर्ष कभी बदलते नहीं हैं; किन्तु गरमाहट की व्याख्याएँ/अभिव्यक्तियाँ बदल सकती हैं। वही स्थिति साधु की रही है। आंचलिकताओं और काल-संदर्भों के कारण आचार्यत्व (साधुत्व) के समायोजन में फर्क जरूर आया; किन्तु उसकी गुणवत्ता अविकल/अक्षुण्ण बनी रही। गुणों की संख्या (३६) एक-जैसी रही; किन्तु गुण कौन-से हों, कौन-से न हों, किस युग में किन गुणों पर जोर देने की जरूरत हुई इस पर विचार नहीं किया गया। इसे हम विकास कहेंगे। विकास-की-प्रक्रिया में परिवर्तन के कई पड़ाव आते हैं, जिन्हें तर्क-की-कसौटी पर सिर झुका कर मान लेना होता है। इस दृष्टि से भी साधु-के-व्यक्तित्व को समझने का प्रयास होना चाहिये (अभी तक नहीं हुआ है)।

जब लोग जानने लगते हैं कि किसी व्यक्तित्व या संस्था के होने की कसौटियाँ क्या हैं (या हों) तब वे उन्हें उन पर परखना/कसना शुरू कर देते हैं।

आज आचार्यों की बहुत बड़ी भीड़ हमारे सामने है। सभी उम्रों के आचार्य हैं—कुछ जोड़-तोड़ से बने हैं, तो कुछ रातों-रात बन बैठे हैं। कुछ अघोषित आचार्य हैं, कुछ स्व-घोषित आचार्य हैं। देखना वस्तुतः परिवर्तन के इन क्षणों में यह है कि आचार्य की गुणवत्ता क्या है और यह कि उसे आज के कुछ तथाकथित आचार्य कितना/और किस तरह निभा रहे हैं? क्या यह संभव नहीं है कि आचार्यत्व-की-कसौटियों पर आचार्यों की छान-बीन (स्क्रीनिंग/स्कैनिंग) की जाए? अब यह बेहद जरूरी हुआ है कि 'आचार्य-बनने-की-इस-बाढ़' को तुरन्त रोका जाए।

वस्तुतः 'आचार्य' शब्द आज तेजाब के तेज घोल में है (न हो तो हम उसे डालें) और उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध हुई है; इसीलिए हमने उस की वस्तुन्मुख व्याख्या करने का यह संयोजन किया है और उन 'आचार्याभासों' की ओर इंगित किया है जिनकी वजह से उस की गरिमा धूमिल हुई है, कई गहन भ्रान्तियाँ फैली हैं, और उसे दुस्सह धक्का लगा है।

माना, भारत विविधताओं का देश है। यहाँ एकता और एकरूपता की तस्वीर विविधताओं के रंगों से बनी है, या यों कहा जाए कि यहाँ वैविध्य ने एकत्व की रचना ठीक उसी तरह की है, जिस तरह सफेद रंग की रचना सात रंगों से होती है। सफेद में सातों की सत्ता है भी, नहीं भी है; क्या कोई धवलिमा को देख कर उसमें बैठी कालिमा, लालिमा, नीलिमा, हरीतिमा इत्यादि की कल्पना कर सकता है? करता भले ही न हो; किन्तु इस सचाई को भूलना असंभव है कि सफेद रंग है और वह विविधताओं का एक संयुक्त कुटुम्ब है, ऐसा कुटुम्ब जिसमें एक रंग किसी दूसरे रंग के आड़े नहीं आ रहा है; बल्कि सब एक-दूसरे की शोभाश्री को समृद्ध करने में बड़े समर्पित भाव से डूबे हुए हैं। भारत का नक्शा विविधताओं में-से उभरा-बना है; किन्तु हम इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ सकते कि बावजूद इन विषमताओं/विविधताओं के एक अपूर्व दार्शनिक और सांस्कृतिक समता उसके प्राणों में बड़े शान्त भाव से धड़क रही है। भारत भारत ही इसलिए है कि उसका व्यक्तित्व विषमताओं में समता का जीवन्त प्रतीक है। ऐसी ही स्थिति जैन समाज की है (नहीं है तो होनी चाहिये) कि उसमें विविधताएँ हैं; किन्तु अभूतपूर्व समता है (अब लुप्त होने लगी है)।

सब जानते हैं कि जैन धर्मानुयायी पूरे देश में ही नहीं वरन् देशान्तरों में भी फैले हुए हैं। उनकी खूबी यह है कि वे बावजूद बहुत सारी व्यावहारिक कठिनाइयों के किसी भी विषमता में अपनी स्वाधीनता/अस्मिता की रक्षा करते हुए घुलमिल जाते हैं (किन्तु ताज्जुब यह है कि वे आज तक अपनी आन्तरिक विषमताओं में समरस नहीं हो पाये हैं)। दिया-तले अँधेरा होने के कारण कई बार उनकी मौलिकताओं पर भी आँच आयी है; किन्तु आँख खुल नहीं सकी है (आगे भी संभावना कम ही है)।

समय-के-पाट पर जब हम उन्हें देखते हैं तब पाते हैं कि उन्होंने इतिहास में तमाम सांस्कृतिक प्रवाहों से समरसता स्थापित की है और बावजूद संकटों के वे बरकरार रहे हैं।

समरसता कभी मरती नहीं है, विषमताओं की रीढ़ टूट जाती है। समता की यह खूबी है कि वह मृत्युंजयी रही है। विषमता मरती है, समता फलती-फूलती है— इस तथ्य को जैन पहले तो समझते थे; किन्तु अब भूलने लगे हैं— यही कारण है कि उनके आन्तरिक विवाद तीव्रतर हुए हैं और मामूली-मामूली बातों में वे एक-दूसरे से टकरा रहे हैं। यह बात सिर्फ श्रावकवर्ग पर लागू नहीं है, वरन् साधुओं पर भी लागू पड़ती है। 'साधु-संस्था' संस्थाओं के बनाने में लगी है, बिना यह जाने-

कि वह खुद एक संस्था है जिसे अपनी गहन टूट-फूट की वक्त-रहते मरम्मत कर लेनी चाहिये। क्या कभी हम समता के इस रहस्य को समझ कर अपने दोषों, अपनी आपसी टकराहटों, और अपने मतभेदों को खत्म करने की पहल नहीं करेंगे? क्या हमारा आचार्यवर्ग अपने क्षुद्र स्वार्थों और झूठी शोहरत (प्रायः राजनैतिक) के पचड़े/लोभ में न पड़ कर इस महत्व के काम पर अपनी शक्ति नहीं लगायेगा?

‘साधु’ शब्द बहुत व्यापक है। समय-समय पर इसकी नाना अर्थ-छवियाँ विकसित हुई हैं। श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति, भट्टारक आदि तमाम शब्द साधु, या किसी साधु-रूप के लिए प्रयुक्त शब्द हैं। ये सारे शब्द साधुत्व के किसी-न-किसी आयाम की अभिव्यक्ति करते हैं। ‘श्रमण’ में घोर तपश्चर्या धड़क रही है, ‘संयत’ में संयम और आत्मानुशासन की साँस बनी हुई है, ‘ऋषि’ में उत्तमताओं का संगीत सुनायी देता है, ‘मुनि’ में भीतर-बाहर के कोलाहल को शान्त करने (मौन) की चेष्टा है, ‘वीतराग’ में राग या मोह को क्षीण करने की परम सिद्धि को प्राप्त करने की ओर इंगित है, ‘अनगार’ में विश्व-बन्धुत्व और अपरिग्रह—परम आर्किचन्य और समत्व की प्रेरक धुनें बज रही हैं, ‘भदन्त’ में कल्याण-कामना है, ‘दान्त’ में एक अपरंपार इन्द्रिय-निग्रह, निष्कपटता, और सादगी प्रतिध्वनित है, ‘यति’ में कर्मक्षय की ईमानदार कोशिश संकृत है, ‘भट्टारक’ में किसी विषय की गहराई तक उतरने की पिपासा और जिज्ञासा क्वणित है—इस तरह ये सारे शब्द मिल कर साधुत्व की गरिमा को व्यक्त करते हैं। क्या हमारा आज का साधु इन तमाम अर्थों को एकसाथ जीने की वस्तुनिष्ठ कोशिश करता चाहेगा? क्या वह ऐसा कोई प्रयत्न करेगा जिससे उसकी तमाम खोयी हुई विमलताएँ लौट आयें और उनका एक तेज असर समाज के नवनिर्माण पर हो?

‘साधु’ एक ऐसा शब्द है जिसमें ‘उपाध्याय’ और ‘आचार्य’ शब्द आपोआप शरीक हैं। उपाध्याय और आचार्य वस्तुतः पदोन्नतियाँ हैं। जो पदोन्नत होता है, उसकी मौलिकता कभी नष्ट नहीं होती—मूल तो उसका हर हालत में बना ही रहता है। पानी अपनी अस्वच्छताएँ छोड़ कर पानी नहीं रहता, ऐसा नहीं है—पानी तो ब्रह्म हर हालत में रहता है। इसी तरह साधु अपनी कमजोरियाँ, कहेँ अस्वच्छताएँ, छोड़ कर जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, पूंज बनता जाता है; किन्तु यह संभव नहीं है कि उसका साधुत्व ही लुप्त हो जाए। एक उपाध्याय उपाध्याय तो होगा ही; किन्तु उपाध्याय होने से पहले (और बाद को भी) साधु तो वह रहेगा ही; इसी तरह कोई आचार्य आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हो कर साधु नहीं रहता ऐसा नहीं है। साधुत्व तो उसकी मौलिकता है, वह तो प्रतिपल उसमें धड़केगी ही। इस्पात के कई छोटे-बड़े बर्तन बन सकते हैं; किन्तु उसके छोटे-बड़े रूपान्तरण में इस्पात अनुपस्थित नहीं हो जाता। इस्पात हर हालत में इस्पात रहता है, साधु

हर हालत में साधु रहता है - खील और स्क्रू अथवा पूरा यन्त्र इस्पात का होने पर भी सिर्फ नामभेद के कारण वह अपना 'इस्पातत्व' नहीं छोड़ता। एक स्क्रू रूपान्तरित हो कर कुछ और बन सकता है; किन्तु उसका इस्पात होना जारी रहता है। इसी तरह साधु के उपाध्याय या आचार्य बनने से वह साधु नहीं रहता ऐसा नहीं है। संबोधन के बदलने में भी यदि आर्किचन्य की अनुगूँज उसमें है तो इससे उसका गौरव/महत्त्व बढ़ता है।

'धवला' में साधु के कई-कई लक्षण दिये हैं। प्रश्न उठाया जा सकता है कि किसी साधु के आचार्य हो जाने पर उसमें साधु के ये गुणधर्म रहेंगे या नहीं? उत्तर स्पष्ट है - रहेंगे (रहने चाहिये)। आचार्य का अपनी समग्रता में साधु बने रहना बेहद जरूरी है - जो साधु आचार्य बनते ही साधु नहीं रहते एक अन्य ही आवेग में उतर जाते हैं, वे 'आधी' छोड़ 'पूरी' की ओर दौड़ते हैं और दुर्भाग्य से आधी भी उनकी पहुँच से बाहर निकल भागती है।

साधु की धवला-वर्णित विशेषताएँ अद्भुत हैं। जिन उपमाओं का इस्तेमाल धवलाकार ने साधु के व्यवितत्व की चर्चा में किया है, वे समीक्ष्य हैं। धवलाकार ने सारे उपमान प्रकृति से जुटाये हैं; खयाल रहे उसने इन्हें शहरी जीवन से नहीं लिया है। जब साधु को 'यथाजातरूपधर' कहा गया है तब वह प्रकृति को कैसे छोड़ सकता है? जो स्व-भाव में स्थिर होने जा रहा है, वह भला स्वाभाविकताओं को तलाक क्यों कर देना चाहेगा?

साधु सिंह की तरह पराक्रमी होता है। वह पुरुषार्थ में आस्था रखता है; अपने बल पर चलता है। तन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष, शकुन, स्वप्न के वर्तुलों में वह नहीं उलझता। वह स्वयं 'समय' होता है, अतः 'समय' उसके इशारे पर चलता है; घड़ियों से वह नहीं चलता, घड़ियाँ उससे चलती हैं। वह सिर्फ समयवेत्ता नहीं होता, बल्कि अपने परम पराक्रम से वह उसका नियामक भी होता है।

कहा गया है कि वह गज की भाँति स्वाभिमानी होता है और वैसे ही मंद-गतिक, किन्तु मंगन हो कर अपने लक्ष्य/ध्येय की ओर गतिमान होता है। वह बैल की तरह भद्रप्रकृति और मृग की तरह सरल होता है। एक बैल जिस तरह हल में जुत कर पूरे श्रम और पूरी लगन से काम करता है - मन में किसी तरह की बिभ्रता महसूस नहीं करता, ठीक वैसे ही साधु भी अपनी साधना में निमग्न रहता है। हिरण सरल, सुन्दर, और बिजली-सा फुर्तीला होता है - साधु भी उतना ही सरल, उतना ही द्रुतगामी, और उतना ही सुषुम्न होता है।

वह मृग (गौ) की तरह निरीह/अहिंसक गोचरी करने वाला, पवन की तरह निस्संग/निर्बाध विचरण करने वाला - शत-प्रतिशत स्वाधीन - सूर्य की तरह तेजस्वी और तमाम तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला, समुद्र की तरह गहरा, मेरु की तरह

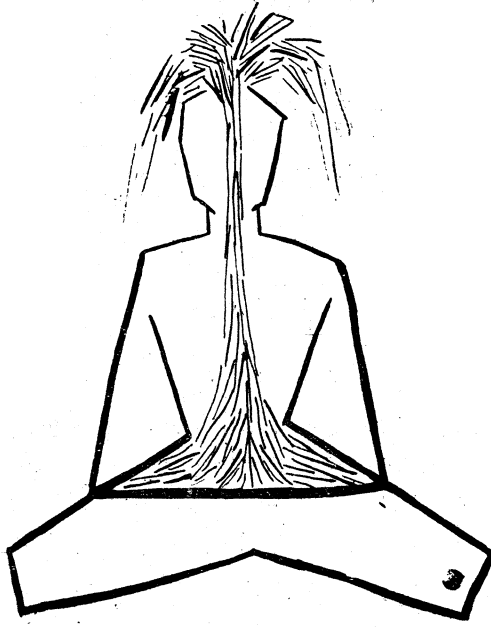
अडोल, चन्द्रमा की तरह शान्ति-प्रदायक; मणि की तरह प्रभावानु, सर्प की तरह 'अनियत वसतिका' में रहने वाला — कभी एक स्थान पर न ठहरने वाला — आकाश की भाँति अनवलम्ब और निर्लिप्त अर्हनिश आत्मानुसंधान में मगन रहता है। तो क्या कोई आचार्य बनने के बाद इन सारी विशेषताओं को छोड़ देता है? नहीं छोड़ता; बल्कि उसमें ये सारी और अधिक उज्ज्वलता के साथ प्रकट होने लगती हैं — उसके आचार्य होने से इन सबमें एक विशेष दीप्ति बन आती है।

'भगवती आराधना' में पासत्य (पार्श्वस्थ) शब्द आया है, जिसका अर्थ है चरित्रहीन/भ्रष्टाचार। 'पासत्य साधू' के संबन्ध में कहा गया है कि एक लाख पासत्यों की अपेक्षा एक चरित्रवान् और शील-संपन्न साधु श्रेष्ठ है। वस्तुतः मोह (—) मायनस गृहस्थ और मोह (+) प्लस साधु में कोई फर्क नहीं है; बल्कि कहा जाएगा कि मोह (—) ऋण गृहस्थ एक मोह (+) धन साधु की तुलना में करोड़ गुना श्रेष्ठ है। असल में ज्ञान और चारित्र के मणि-कांचन योग का नाम ही साधु है।

'भावपाहुड' में साधुओं के दो भेद दिये हैं — यथार्थ साधु, अ-यथार्थ साधु। वर्गीकरण बड़ा सटीक हुआ है। यथा-अर्थ (रिअल) साधु वह है, जो साधुत्व को प्रतिपल पूरी अप्रमत्तता में जी रहा है और अ-यथार्थ साधु वह है जो 'दोषों-का-आवास' और 'मलिन-चित्त' है — ऐसा साधु एक सुशील श्रावक के समान भी नहीं है। वह अ-यथार्थ (अनरिअल) है। कहा गया है कि अ-यथार्थ साधु से यथार्थ श्रावक श्रेष्ठ है। इसी तरह का एक वर्गीकरण है — सम्यक् साधु, मिथ्या साधु। जो साधु रत्नत्रय में शिथिल है, वह मिथ्या/अ-यथार्थ है, और जो रत्नत्रय में जगा-भगा है वह सम्यक्/यथार्थ है। क्या हमारे आचार्य 'यथार्थ साधु' हैं? उन्हें निकष पर अवश्य कसें और देखें।

साधु-की-परिधि में तन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, उच्चाटन, वर्गीकरण आदि नहीं आते; अतः जो आचार्य यह सब करते/कराते हैं उन्हें संसक्त साधु कहा गया है। 'रयणसार' में संसक्त (संसक्त) को पार्श्वस्थ (पासत्य) की श्रेणी में खड़ा किया गया है। उसे संसक्त (चरित्रभ्रष्ट) कहा गया है। 'भगवती आराधना' में साफ-साफ शब्दों में कहा गया है कि ऐसा साधु नट/अभिनेता से अधिक नहीं है। वह साधु नहीं, साधुत्व का व्यंग्य है — मात्र अभिनय-प्रवृत्त नट। अ-यथार्थ साधु ऐसे ही साधुओं के लिए इस्तेमाल हुआ शब्द है।

हमें इन पिछले हुए क्षणों में देखना होगा कि आज जो आचार्य बने, या बन रहे हैं, वे 'भाव-आचार्य' हैं या 'द्रव्य-आचार्य'? हमें आने वाले 'कल' और 'आज' के लिए 'भाव-आचार्य/भाव साधु' की जरूरत है ताकि हम उन सारी चारित्रिक विपदाओं का मुकाबला कर सकें जो हमारा द्वार आज पूरे बल और झपट्टे से खटखटा रही हैं और हमें फाँसी के फंदे पर पुकार रही हैं। □□



आचार्य : प्रतिक्रमण-की-प्रक्रिया में अस्वच्छताएँ बाहर फेंकता समंदर

पुराने समय में मौखिक उपदेश की परम्परा नहीं थी। भारतीय संस्कृति में आचार पर अधिक बल दिया गया है। आचार शब्द—

आङ् + चर् + घञ् + से बना है, जिसका अर्थ है चरित्र, शील, विचार, वृत्त, व्यवहार, चरण। इसी शब्द मे-से प्रकट हुआ है 'आचार्य'।

'आचार्य' बहुत गहरा शब्द है। आचार्य बोलता कम है; किन्तु जितना बोलता है, उतना अपने व्यवहार में/चरित्र में बोता है;

ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह कहे कुछ और उसके चरित्र में प्रकट कुछ और ही हो। भारतीय वाङ्मय में आचार्य की जो परिभाषा दी गयी है,

वह मन-मस्तिष्क को झकझोरने वाली है।

* कहा गया है—जो शास्त्र-के-अर्थों का चयन करता है और उनकी आचार-के-

* आचिनोति हि शास्त्रार्थान् आचरते स्थापयत्यपि ।

स्वयं आचरते यस्तु आचार्यः स उच्यते ॥

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/९

रूप में क्रियान्विति, या स्थापना करता है, तथा खुद भी उनका आचरण करता है— वह आचार्य है।

आचार्य का संबन्ध सिर्फ शब्द से ही नहीं है, अर्थ से भी है।

आचार्य वह है जो शब्द के परम-अर्थ को आचरण में व्यक्त करता है।

धर्म अलग से कुछ नहीं है। उसकी हैसियत आचार में-से उत्पन्न है। कहा गया है— 'आचारप्रभवो धर्मः' (धर्म आचार में-से जन्मता है)।

जैनागम में आचार्यपद पर गहन चिन्तन-मनन हुआ है। महामन्त्र णमोकार में 'णमो आइरियाणं' एक ऐसा सेतु-पद है, जो साधु-उपाध्याय

और अर्हन्त-सिद्ध के मध्य अवस्थित है। इससे यह प्रकट होता है कि आचार्य साधु और उपाध्याय का क्रमबद्ध परिपाक है और अर्हन्त-सिद्ध की

संभावना है। आचार्य को हम पदोन्नत साधु भी कह सकते हैं। महामुनि को ले कर 'उत्तराध्ययन' की सत्रहवीं गाथा में बताया गया है कि अलोलुप, रस-में-अगृह्य, जिह्वा-का-दमन करने वाला, अमूर्च्छित

ऐसा महामुनि रस-स्वाद के लिए न खाये, जीवन-निर्वाह के लिए खाये।

संपूर्ण गाथा है— 'अलोले न रसे गिद्धे/जिब्भादन्ते अमूर्च्छिए/न रसट्टाए भुज्जिजा/जवणट्टाए महामुणी'। यहाँ एक तरह से साधु-से-आचार्य-तक की अस्मिताओं का सर्वोत्तम अंकन हुआ है।

मुनि भीतर के कोलाहल को तो शान्त करता ही है;

इन्द्रियों के कोलाहल के मुँह पर भी ताला डालता है।

लोलुपता, गृह्यता, मूर्च्छा कुछ ऐसी राक्षसियाँ हैं, जो उसे चारों ओर से घेरती-जकड़ती हैं; किन्तु वह घिरता नहीं है, उनकी पकड़ से बाहर हो रहता है।

मूर्च्छा-पिशाचिनी से किन्तु बचना कठिन होता है। मूर्च्छा नाम परिग्रह का है। उससे भला कब/कौन बच पाया है?

आचार्य अमूर्च्छा में यात्रा करता है। वह कहीं पल-भर को भी मूर्च्छित नहीं होता। उसकी यह अमूर्च्छा उसके शब्दों में प्रकट नहीं होती, वरन् उसके व्यक्तित्व में व्यक्त होती है।

वरतुतः आचार्य साधु की क्रमबद्ध परिणति है। यदि कोई आचार्य की मूर्ति गढ़े और वह निपट पारदर्शिनी हो तो आप देखेंगे

कि उसके भीतर एक साधु अलथी-पलथी मारे ध्यानस्थ बैठा है। साधु सर्वत्र आचार्य नहीं होता; किन्तु आचार्य सर्वत्र/सदैव साधु होता है। वह अनुपल

भिष्णु होता है। भिक्षा अमूर्च्छा का सर्वश्रेष्ठ रूपान्तर है। वह मूर्च्छा का दैनंदिन समाधान है। इस दृष्टि से 'उत्तराध्ययन' का 'सभिक्षुयं' (पन्द्रहवाँ अध्ययन) महत्त्वपूर्ण है। यह भिक्षु की उस अस्मिता को स्पष्ट करता है, जो आगे चल कर आचार्य में पदोन्नत होती है।

सवाल उठाया गया - भिक्षु कौन है ?

उत्तर मिला - 'अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्षू' -

जो अप्रतिबद्ध विहार करता है, वह भिक्षु/साधु है।

जो किसी से बँधा हुआ नहीं है, जो 'अनकमिट्टेड' है - वह साधु है।

भिक्षु यदि प्रतिबद्ध है कहीं तो मात्र कैवल्य से, सम्यक्त्व से, समत्व से, आत्मा के स्वरूप से। इसके अलावा उसकी कोई प्रतिबद्धता नहीं है। वह हिंसा, झूठ, चोरी, अन्नह्य, परिग्रह किसी से बँधा हुआ नहीं है। वह मुक्त है, या मुक्त होने की प्रक्रिया में क्रम उठाये हुए है। वह न आँख से बँधा है, न कान से, न जीभ से, न नासिका से, न किसी स्पर्श से -

वह अप्रतिबद्ध है और जन्मजन्मान्तर से चली आ रही है प्रतिबद्धताओं को क्षीण/परिष्कृत/शेष करने की साधना में निरन्तर निमग्न है।

फिर वही प्रश्न -

भिक्षु कौन है ? जवाब है -

'जे कम्मिच्चि न मुच्छिण स भिक्षू' - जो किसी वस्तु में मूर्च्छित नहीं होता,

वह भिक्षु है, श्रमण है।

वही प्रश्न - भिक्षु कौन है ? उत्तर है - 'जे कसिणं अहियासए स भिक्षू' -

जो सब कुछ सहन करता है, वह भिक्षु है।

आचार्य के जो लक्षण आये हैं उनमें उसके लिए एक उपमान आया है - क्षिति।

कहा गया है - वह धरती की तरह क्षमावान् और सहिष्णु होता है -

जैसे/जिस तरह यह धरती झेलती है, वह भी झेलता है। वह सिर्फ सहिष्णु ही नहीं होता, बल्कि सहिष्णुता का जनक, उसकी अन्तिम सरहद होता है।

लगने लगता है उसकी उस दिव्य सहिष्णुता को देख कि जैसे सहनशीलता जिस धातु से बनी है यह उसकी खदान है। वह सहता है क्षपकों के अपराधों को इस तरह कुछ जैसे माता सहती है अपनी बिगड़ल संतान के दोष/कसूर। वह उनके गुण-दोष प्रकाश में लाता है; किन्तु सबके सामने कभी नहीं, सिर्फ उसके सामने। उसमें से एक-एक बात अपनी पटुता/अपनी प्रवीणता/अपने कौशल से निकलवा लेता है; किन्तु उसके दोषों, उसके अपराधों को कभी दूसरों के सामने चर्चा का विषय नहीं बनाता। वह उन्हें सहता है, उन्हें सुधारता है, उनका दिशा-दर्शन करता है। उन पर एक ऐसे सुदृढ़ छाते की तरह आठों याम वह बना रहता है, जो धूप-बारिश सहता है; किन्तु अखिन्न भाव से हर हालत में उनकी रक्षा करता है।

धरती वह सब सहती है, जो उस पर नीव खोदते, गहरी खदानें खोदते, उस पर जंग जड़ते वक्त किया जाता है। वह खून-खराबा, स्लानि-जुगुप्सा, मल-मूत्र, खरा-खोटा सब सहती है। ठीक इसी तर्ज में अपना फर्ज पूरा करता है एक आचार्य। वह अपने संघ पर चौकस आँख रखता है, उसे रास्ता दिखाता है; किन्तु उसके अपराधों का ढिंडोरा कभी नहीं पीटता। वह संघ की पीड़ा का पता लगाता है और सही घाव पर अँगुली रख कर उसकी सावधान मरहम - पट्टी करता है।

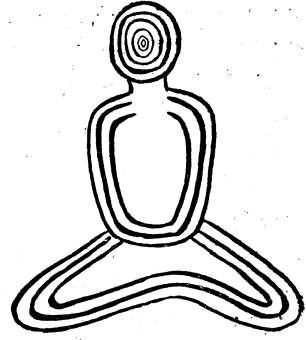
एक भिक्षु को परीषह तो सहन करने ही होते हैं, वह तो उसका नित्यकर्म है। वह कठोर-कर्मक शब्द सुनता है और हर्ष में — विषाद में अभावान् बना रहता है। वह निकृष्ट शयन और आसन सहता है, सर्दी सहता है, गर्मी झेलता है, बरखा में भीगता है, मच्छर काटते हैं तो उन्हें सहता है। उसके रोम-रोम में समत्व बना रहता है/संकृत रहता है—वह न तो हर्ष में हर्षित होता है; और न ही विषाद में विषण्ण — वह नख-शिख समतावान् होता है।

वह बिथाओं और विपदाओं में-से भी आत्मा-की-गवेषणा करता है।

पूछा गया — भिक्षु कौन है? उत्तर मिला — 'से संजए सुज्वए तवस्सी/सहिए आयगवेसए स भिक्षू' — जो संयत, सुव्रत, तपस्वी, दूसरे भिक्षुओं के साथ रहने वाला, और आत्मान्वेषी है — वह साधु है/वह भिक्षु है।

पहली शर्त है संयम। जब तक किसी साधु के जीवन-के-चारों-ओर संयम-की-मेंड नहीं होगी, वह बिखर जाएगा, टूट जाएगा। नदी के तट यदि नहीं होंगे, तो वह नदी ही नहीं रहेगी। भित्तिर्यां नहीं होंगी तो भवन नहीं होगा; इसलिए संयम जरूरी है, यदि वह नहीं होगा तो साधु ही नहीं होगा — उसकी निजता खतरे में पड़ जाएगी। संयम नीव है स्वस्थ जीवन की; वह शर्त है स्वयं-को-स्वयं-में पाने की; वह नहीं, यानी कुछ नहीं। उच्छृंखल (बिखरे हुए) को कभी कुछ नहीं मिलता। जो एकाग्र है, जिसका लक्ष्य है, जो किन्हीं सिद्धान्तों और आदर्शों से बँधा हुआ है, उसे सबकुछ उपलब्ध होता है, आप ही सोचें जो निरंकुश/अराजक है उसे भला क्या हासिल हो सकता है? संयम होना प्रथम शर्त/स्थिति है साधु-जीवन की, उसके बाद चाहिये व्रत। व्रत संयम को गहन-गहीर करने में मदद देते हैं। इनके माध्यम से साधु (श्रावक भी) भीतर, और-और भीतर उतरता जाता है। व्रतों से बाधाएँ कटती हैं, मुश्किल राहें आसान होती हैं। सुव्रती के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है, अव्रती के सामने अनगिनत मुश्किलें होती हैं, अड़चनें होती हैं जो उसे लगती सुखद हैं, किन्तु अन्ततः दुःखद ही होती हैं; किन्तु व्रती के आगे सुविधाएँ-ही-सुविधाएँ होती हैं — उसके तमाम रास्ते उत्तरोत्तर सरल, निष्कण्टक, और समतल हो जाते हैं।

साधु तपस्वी होता है। वह संकटों के सामने झुकता नहीं है, संकट उसके सामने मत्था टेकते हैं। वह निराकुल होता है; उसके मन में द्वन्द्व/दुविधा का कोई काँटा नहीं कसकता — वस्तुतः उसके भीतर शूल और फूल दोनों एक ही होते हैं। शूल उसे लगने लगते हैं फूल और फूल चुभने लगते हैं। वह इन्द्रियों का परम नियंत्रण करता है और आत्मोन्नयन के मार्ग पर अ-रुक बढ़ता जाता है। संयम, व्रत, तप उसके ऐसे औजार होते हैं, जिनके द्वारा वह आत्मा की तेजोमयता को अविराम उधाड़ता जाता है। वह माटी हटाता है और सोना हासिल करता है। वह जितना-जितना गहराता है, उतना-उतना शीतल नीर उसे मिलता जाता है। वह प्रतिपल कृष्णा-के-जल में नहाया रहता है। उसकी इन्द्रियाँ और चित्तवृत्तियाँ नम्र होती हैं। वह उन्हें जिस और चाहता है हाँक ले जाता है बहुत ईमानदार/स्वामिभक्त अश्व की तरह अपनी काया-गाड़ी में जोत कर। कुल में, वह आत्मगवेषी होता है; और इस तरह,



सीढ़ी-दर-सीढ़ी, वह आचार्य के पद पर आ लगता है। साधु, गुणों का प्रखर पुंज होता है। वह जैसे-जैसे आत्मान्वेषण में अपने क्रम उठाता है, उसकी शक्तियाँ निखरती हैं, अधिक बल संचित करती हैं। भिक्षु की अस्मिता कई चारित्रिक गुणों से बनती है। भिक्षु कौन है? जवाब है — जो संसार से विविक्त है, ऐसी संगति छोड़े हुए है जो लौकिकता में फाँसती है — वह भिक्षु है। भिक्षु कुतूहल में नहीं जीता, उसका एक-एक पग सम्यक्त्व-के-पथ पर चलने को मचलता है। वह सम्यक्त्व को जीता है, और सम्यक्त्व उसमें जीता है। आहिस्ता-आहिस्ता सम्यक्त्व बन जाता है उसकी श्वास, और फिर यही श्वास बन जाती है अडिग विश्वास — और फिर इस तरह वह अपनी निजता में सिर उठाये अभीत/निरंजन उठाता जाता है अपने पग परम लक्ष्य की ओर। सब जानते हैं कि कोई भी आचार्य होने से पहले एक अनुशासनबद्ध साधु होता है। एक आचार्य वह सब कुछ कर चुका होता है, जो उसे कराना होता है। यदि कोई ऐसा साधु इत्तफाकन आचार्य बन बैठे जो श्रमणाचार का 'क ख ग' भी न जानता हो तो मानिये-संघ की बाधिया बैठ जाएगी और उसमें खलनाएँ बढ़ जाएँगी; इसलिए कोई आचार्य बने इससे पहले यह अवश्य देख ले कि उसने साधु-जीवन की कितनी गमियाँ, कितने शीत, और कितनी बारिशों अपने सिर पर झेली हैं? यदि उसे अनुभव नहीं है साधुत्व-की-सीमाओं का तो हम उससे कोई रचनात्मक आशा नहीं रख सकते; इसीलिए कहाँ है कि एक भिक्षु, जिसके गर्भ में सिद्धत्व तक की संभावनाएँ विद्यमान हैं, कभी स्वयं में उद्घाटित विद्याओं-से-आजीविका नहीं करता, वह स्वाधीन, अकिंचन, निःस्पृह, निष्परिग्रह, निष्काम जीवन जीता है, कांटों की अनी पर मुस्कराता है, और मुश्किलों को आसान करने की कला में पारंगत हो जाता है। खयाल रहे: जब-जब हम यह सवाल करेंगे कि साधु (भिक्षु) कौन है, तब-तब हमें उसकी अस्मिता के नये आयाम दिखायी पड़ेंगे। ध्यान रहे: साधु के जीवन का एक ही पक्ष नहीं है; वह अनैकान्तात्मक,

बहुमुखी, और बहुआयामी है। साधु सिर्फ एक विद्या के चरणों में अपनी तमाम शक्तियाँ अर्पित करता है—वह है आत्मविद्या। वह जानता है कि इस विद्या के तुल्य कोई विद्या नहीं है—इसके सामने तमाम लौकिक विद्याएँ बौनी हैं।

इसलिए साधु वह है जो छिन्न, स्वर, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, वास्तु, अंग-विकार और स्वर-विज्ञान-जैसी विद्याओं को अपनी आजीविका नहीं बनाता—बल्कि अपना एक-एक पल गहन साधना में व्यतीत करता है। वह लोकेषणा के जाल में न तो खुद फँसता है, और न ही किसी को फँसाता है। उसे न कीर्ति चाहिये, न कांचन; उसे चाहिये मुक्ति, उसे चाहिये आत्मा का प्रांजल, विशुद्ध, खालिस स्वरूप; इसीलिए वह जूझता है हर पल उन बाधाओं से जो उसकी स्वाभाविकता को राहु-केतु की तरह ढँकती हैं, उसकी साधना में व्यवधान डालती हैं। इस महाभारत में वह वैभाविकताओं को हराता है और स्वाभाविकताओं से अपना खजाना भरता है। वह तमाम आकुलताओं को छोड़ कर परिव्रजन करता है। उसकी आसक्तियाँ तप-की-तीव्रता में क्षीण हो जाती हैं।

उसका कहीं कोई घर नहीं होता। वह अनगार होता है, अंगार होता है। उस पर पड़ कर आसक्तियाँ जल-झुलस जाती हैं। वे उस पर पाँव नहीं जमा पाती; हाँ, अलबत्तह उसके पाँव उन पर पूरी मजबूती के साथ अवश्य जम जाते हैं, इसीलिए उसे नहीं चाहिये कोई संस्तव/सिफारिश या परिचय; वह स्वयं जो अपना परिचय है—ऐसा अपरिचितों में जो परिचित है वह है भिक्षु, वह है साधु, वह है श्रमण।

जो अकेला विचरता है, वह साधु है।

यहाँ 'अकेला' शब्द पर ध्यान दें (आचार्य नेमिचन्द्र ने एकलविहार को अनुचित बताया है)। अकेले का अर्थ है भीतर जिसने एकत्व संपादित कर लिया है—भीतर जो अकेला/विविक्त रह गया है। राग-द्वेष जिसे 'अकेला' कर गये हैं। जिसके भीतर न राग टिक सका है, और न द्वेष। जो भीतर निपट एकाकी विचरण करता है—वह साधु है। ईर्या समिति मात्र लोकाचरण की माँ नहीं है, वह स्वरूपाचरण की भी माता है।

कहा गया है। जो प्राज्ञ है, परीषह-जयी है, सब जीवों को आत्मतुल्य मानने वाला है, उपशान्त है, किसी की अवमानना नहीं करता—वह भिक्षु है: 'पत्ने अभिभूय सव्वदंसी/उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू'।

।जसकी कषायें मन्द हैं, जो स्वल्प और निस्सार आहार लेता है, जो घर को छोड़ कर एकाकी विचरण करता है—वह भिक्षु है/साधु है: 'अणुक्कसाई लहुप्पभक्खी/चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू'।

जैसे किसी पाषाण खण्ड पर कोई शिल्पी अपनी छैनी चलाता है

और उसमें-से कोई प्रतिमा क्रमशः उभरने लगती है

ठीके ऐसे ही साधु अपने जीवन-पाषाण पर तपश्चर्या की छैनी से उसे ध्यान पर शाण देता हुआ आकार देता है और देखता है क्रमशः कि 'उवज्जाय,

आयरिय, अहंन्त, सिद्ध' की अवस्थाएँ उसमें कुलाँचें भरने लगी हैं तो वह झूम उठता है, नाच उठता है।

वह तप-की-छैनी-से-संयुक्त मिथ्यात्व/सम्यक्त्व के पाषाण को अविराम/अविचल तराशता जाता है—खूब उल्लसित, खूब उमंगित, खूब प्रसन्न—

और उत्तरोत्तर उसके सम्मुख शुद्धात्मतत्त्व अपनी नाना छवियों में प्रकट होने लगता है।

ध्यान रहे। जब तक कोई शिल्पी अपने पाषाण उपादान से डायलॉग (संवाद) कायम नहीं कर लेता तब तक उसमें-से वह झंकृत नहीं होता, जिसकी उसे प्रतीक्षा है।

एक ही पाषाण अलग-अलग शिल्पियों के लिए अलग-अलग उत्तर दे सकता है क्योंकि यह सब उन-उन शिल्पियों की हैसियतों और क्षमताओं पर निर्भर करता है। वस्तुतः, सब कुछ, शिल्पी-के-भीतर जो दृष्टि बनी है, उसी पर निर्भर करता है। इस तरह साधु में-से आचार्यत्व/आचारवत्त्व की अवस्था बनती है।

हम ऊपर कह आये हैं कि एक आचार्य तो हर हालत में साधु होता है किन्तु एक साधु आचार्य हो, यह जरूरी नहीं है; हाँ, इतना अवश्य है कि किसी भी साधु में आचार्यत्व की संभावनाएँ सदैव हरी-भरी रहती हैं (ऋतु की प्रतीक्षा करनी चाहिये)।

असल में संभावनाओं का खजाना तो 'उत्कृष्ट श्रावकत्व' में-से ही खुलने लगता है—

फिर तो व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह कितनी/कैसी साधना करता है और किस तरह से अपनी प्रच्छन्न निजता को रूपायित करता है/प्रकट करता है।

आचार्य की कुछ स्पष्ट जवाबदारियाँ हैं। निश्चय ही उसका एक साधु-परिकर होता है, जिसे मार्ग-दर्शन देना, और जिसके आचार पर अहंनिश चौकसी रखना उसका सर्वोपरि कर्तव्य होता है। वह स्वयं तो आत्मगवेषी होता ही है, साथ में यह भी देखता है कि आत्मान्वेषियों का जो साधक-दल उसके साथ है वह पूरी निष्ठा और तत्परता, पूरी शक्ति और समरसता से तपश्चर्यारत है अथवा नहीं; जो नियम परम्परा से चले आ रहे हैं उनका पालन उसके साधुओं द्वारा हो रहा है, या नहीं?

किसी भी आचार्य-व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं— एक वह खुद, दूसरे उसके संघस्थ साधु। वैसे एक तीसरा पक्ष भी है— समाज। इस तरह उस पर तिहरी जवाबदारी होती है— स्वयं की, संघ की, समाज की। जहाँ तक उसके-व्यक्तित्व का प्रश्न है शास्त्रों ने कई उपमाओं/रूपकों द्वारा उसका वर्णन किया है। कहा गया है :

उसे पंचाचार का निरतिचार पालन करना चाहिये; ये हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार (इन्हें इसी अंक में दिये गये 'कोश' में यथास्थान देखें)। यहाँ हम केवल वीर्याचार पर विचार कर रहे हैं। वीर्य का अर्थ है शक्ति/सामर्थ्य। आचार्य को चाहिये कि वह तप में, साधना में, व्रत में अपनी शक्ति को अ-निगूहित/अगुप्त रखे—छिपाये नहीं। जितनी शक्ति हो उतनी सब तप में लगा दे। अगोपन भाव से कर्मक्षय करे; शक्ति का कोई अंश ऐसा न बचे जिसे काम में न लिया गया हो। वह पूरे सामर्थ्य से अतिचारों-के-काँटों से अपनी साधना-की-पगतली को बचाता हुआ कंटकाकीर्ण रास्ते पर निराकुल चले।

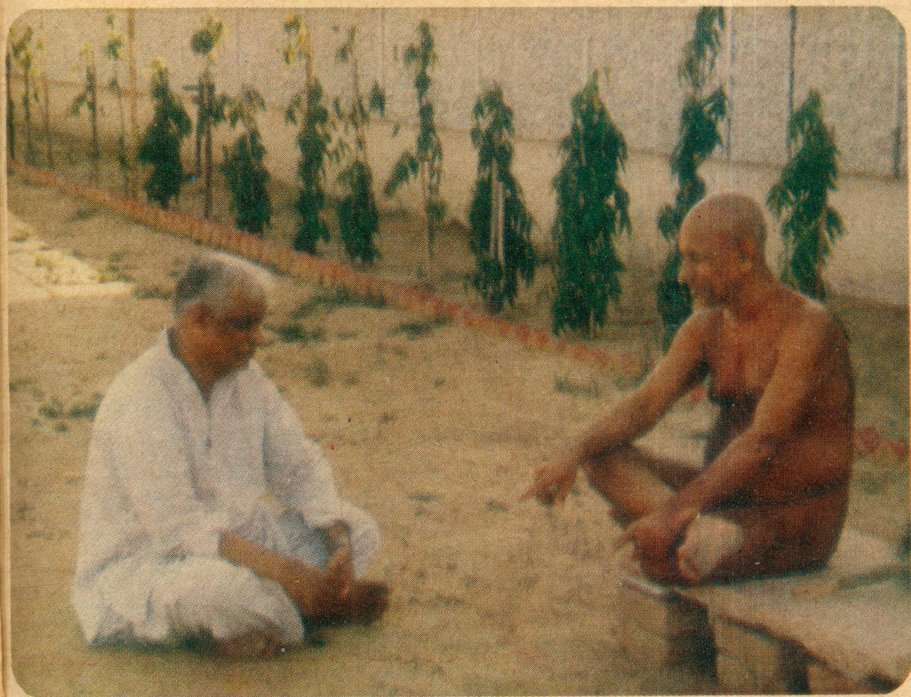
वह विविक्त-वास हो—यानी किसी खास स्थल में 'संसक्त' न हो। ऐसा स्वप्न में भी न माने कि फलाँ जगह मेरी है। मैंने इसे स्थापित कराया है—इस इमारत को, इस संस्था को मैंने खड़ा किया है अतः इसी में बना रहूँ।

और फिर मजा यह है कि किसी इमारत या मकान को छोड़ कर भी उसमें रहा जा सकता है। आप किसी मकान या भवन या संस्था में न भी रहते हों; किन्तु यदि उसकी चिन्ता आपको रात-दिन सालती है और उसकी आसक्ति आपके भीतर साँस ले रही हो तो मानिये कि आप उसी में रह रहे हैं—

आचार्य इस तरह की आसक्तियों से मुक्त रहता है। वह स्थान-मोह नहीं रखता। वह जहाँ भी रुकता है वहाँ इस तरह कुछ रुकता है जैसे सूरज-की-किरण। कहीं ठहरती है वह किसी एक ठौर एक क्षण, या क्षणांश को। आचार्य भी उसकी तरह अनासक्त चित्त पग उठाता चलता है। उसे तो विविक्त इसलिए भी होना होता है चूँकि वह अपने शिष्यों का आदर्श है। तमाम शिष्य-साधुओं के स्वाध्याय-का-विषय वह अहर्निश है। वे उसकी चर्चा को देखते हैं और उसे मानक मान कर तदनुसार करते हैं। यही कारण है कि एक आचार्य-के-चारों-ओर आँखें-ही-आँखें रहती हैं—

इस सजगता और दायित्व को रोम-रोम में लिये एक आचार्य को जीना-जागना होता है। संभव ही नहीं है यह कि कोई आचार्य अपने शिष्य की आँखों से गिरना पसन्द करे। जो आचार्य अपने शिष्य-कुल के लिए आदर्श नहीं है—वह असल में आचार्य है ही नहीं—आचार्य की 'डमी' मात्र है। न्यून आहार, रसों-का-यथासंभव त्याग, स्व/पर-समय में पारंगति, मेरु-की-तरह-की-अविचलता, सातों भयों से मुक्ति, सूत्रार्थ-का-गहन-ज्ञान, श्रुत में विशेषज्ञता;

(शेष पृष्ठ ३७ पर)



किताबी ज्ञान से गाड़ी नहीं चल सकती, चरित्र चाहिये

आचार्य विद्यानन्दजी/डॉ. नेमीचन्द्रजैन/कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली : १३ जून ८७

डॉ. नेमीचन्द्र जैन : यह वही स्थान है जहाँ आप प्राकृत भाषा और आचार्य कुन्दकुन्द को ले कर जैन धर्म और दर्शन के अध्ययन/अनुसंधान की कई व्यापक योजनाएँ आरंभ करने जा रहे हैं। मैं आपके सम्मुख हूँ और आपकी रचनाधर्मिता को प्रणाम कर रहा हूँ। सबमें पहले यह कि २८ जून को आप आचार्य-पद ग्रहण कर रहे

हैं आचार्य श्रीदेशभूषणजी के उत्तराधिकारी के रूप में, अतः आपसे सहज ही जानना चाहूँगा कि इस 'आचार्य' शब्द का अर्थ क्या है ?

आ. विद्यानन्दजी : आप तो जानते ही हैं कि जैनधर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और कृतयुग से आज तक वह अविच्छिन्न चली आ रही है। प्रथम तीर्थंकर भगवान्

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/१७

वृषभदेव के बारे में हमारे जैन पूजा-पाठ में एक बहुत सुन्दर श्लोक आता है—'मंगलं भगवान् अर्हन्तं मंगलं भगवान् जिनः । मंगलं प्रथमाचार्या मंगलं वृषभेश्वरः ॥' उन्हें प्रथम आचार्य कहा, जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने पहले आचरण किया और उसके बाद अपने अनुयायियों को यह बताया कि शब्द को आचरण में कैसे लाया जाता है? वे महाव्रती थे, महायोगी थे; अतः अपने आचरण से ही सारे समाज को और इसी तरह सारी साधु-संस्था को मार्गदर्शन करते रहे ।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि इस पद पर आचरण बहुत महत्त्वपूर्ण है; वह तन की भाषा है ।

वि. : बिल्कुल सही है । जैसे तन की भाषा होती है, वैसे ही मन की भी भाषा होती है; वाणी का उपयोग तो होता ही है—तो तन की जो भाषा होती है वह चरित्र में से गुँजती, प्रकट होती है । यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि साधु ने कोई हाथ हिलाया या उझक के देखा तो लोग सोचते हैं उसने ऐसा क्यों किया? इस तरह हमारे तन-की-जो-भाषा है वह सार्थक बनती है और वही आचरण-रूप होने से योगियों ने उसका उपयोग किया । भगवान् ऋषभदेव ने 'देहे निर्ममता' को साधु-चर्या की एक महत्त्वपूर्ण शर्त बताया; इसीलिए सबसे पहले शरीर के प्रति ममताभाव छोड़ना चाहिये; क्योंकि जो ममताभावी है, वह संसार में अवश्य फँसगा ।

ने. : साधना में शब्द शान्त हो जाते हैं और चरित्र की हर रेखा रिकॉर्ड की रेखाओं की तरह बजने/बोलने लगती है, अर्थात् आचार्य हम उसे कहेंगे जिसकी कथनी-करनी का भेद मिट गया हो ।

वि. : और फिर उनके आचरण मंगलाचरण बनते गये और फिर इसी परम्परा को ले कर शास्त्रों ने उत्तम, मध्यम, जघन्य रूप में लोकप्रमाणभेद चारित्र्य निरूपित किये ।

ने. : 'आचार्य' शब्द जिस तरह काम में आता है उससे लगता है कि एक आचार्य का अपना साधु-परिकर होता था—क्या बिना परिकर के भी कोई आचार्य हो सकता है ?

वि. : बात यह है कि पंचपरमेष्ठी में अर्हन्त, सिद्ध, और आचार्य के क्रम में आचार्य का नम्बर तीसरा है (णमो आइरियाणं) । शास्त्रों में बताया गया है कि आचार्य शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि का वेत्ता होता है और साधु-संघ का मार्गदर्शन करता है; समाज को भी रास्ता दिखाता है । साधु अपने आचरण पर जितने दृढ़ रहते हैं, समाज भी उस अनुपात में अपने आचरण पर दृढ़ रहता है ।

ने. : इस तरह आचार्य के तीन पक्ष हुए—स्वयं, साधु-परिकर, और समाज ।

वि. : 'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्यों के लिए एक नया शब्द प्रयुक्त हुआ है—आरा-तीय । सब जानते हैं कि इस कलयुग में शरीर-बल घट रहा है, बुद्धि-बल घट रहा है और आयु भी घटती जा रही है ।

ने. : यानी चारों ओर से घाटा-ही-घाटा है ।

वि. : देखिये, आरा^२ जो लकड़ी चीरने का होता है उसके दाँत क्रमशः छोटे, छोटे, और छोटे होते जाते हैं । शरीर-शक्ति, बुद्धि-बल, और वय-बल भी इसी तरह घटते जाते हैं । शास्त्रों में इसी अपेक्षा से आचार्यों के भेद बताये हैं; किन्तु धवला-

१. स.मि १/२०/१२४/१ आरातीयैः पुनराचार्यैः—आरात्यों के द्वारा अर्थात् आचार्यों के द्वारा ।

२. लकड़ी चीरने का एक दाँतीदार औजार ।

कार, और स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य को यहाँ तक कहना पड़ा कि जो पंचाचार और तीन गुणियों का ध्यान रखते हैं वे भी आचार्य हैं।
 ने. : फिर चाहे उनके साथ साधु-परिहर ही अथवा न हो ?

वि. : वास्तव में शिक्षा-दीक्षा देने वाले को ही आचार्य कहा है। शास्त्रों में आचार्य के छत्तीस गुण^३ बताये हैं—१२ अंतरंग/बहिरंग तप, १० धर्म, ६ आवश्यक, ५ आचार, और ३ गुणियाँ। कुल मिला कर ये जो गुण हैं आचार्य उन्हें चरित्र में प्रकट करते हैं, अपने साधुओं से भी इनका अप्रमत्त आचरण कराते हैं। इन्हें परम आवश्यक कहा गया है।

ने. : ये आचरणीय हैं, अपरिहार्य हैं, और बिना भाषा के प्रकट होते हैं।

वि. : वैसे तो 'चरित्रसार' में कहा है कि जो दूसरों को आचरण का मार्ग बताते हैं, वे भी आचार्य हैं।

ने. : आचार्य के मुख्य कर्तव्य क्या हैं? गुणों की भाषा में न बोलते हुए सीधी-सादी जवान में बताइये।

वि. : आचार्य के मुख्य कर्तव्य हैं—अपने आचार को ऊँचा रखते हुए साधु-संस्था को आदर्श रूप देना, अपना रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) विकसित करते हुए समय का थोड़ा सद्बुपयोग कर अपने साधु-संघ को रत्नत्रय में सुस्थिर/अविचल रखना, उसे प्रायश्चित्त बता कर शुद्ध रखना, शिक्षा-दीक्षा देना, पढ़ना/स्वाध्याय करना; और फिर एक बात और कही—'संघस्य संतुष्टिकरः'—इस तरह का व्यवहार करना कि सारा संघ संतुष्ट रहे;

यह नहीं कि किसी शिष्य के प्रति अधिक स्नेह और किसी के प्रति कम। आचार्य के लिए सबके प्रति समताभाव रखना जरूरी है।

ने. : उसे पूर्वग्रह-मुक्त होना चाहिये।

वि. : होना ही चाहिये; और फिर कहा है कि उसे अखण्डित स्वाध्याय करना चाहिये। 'उसकी चर्चा कैसी हो' इसे ले कर आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—'बहु-जन-हितकर चर्चा'। उसका आचार इस तरह संयोजित हो कि उसमें आत्महित के साथ बहुजन समाज का कल्याण भी होता हो।

ने. : यहाँ 'बहुजन' क्यों कहा, 'सर्व-जन' कहना था ?

वि. : बहुजन इसलिए कहा कि धार्मिक/सामाजिक व्यवस्था होने से इसमें प्रायः ऐसे ही जन आते हैं जो या तो भव्य होते हैं या रुचि रखते हैं; सब नहीं आते।

ने. : मुझे लगता है यहाँ क्रमशः क्रम उठाने की बात है अर्थात् बहुजन से सर्वजन तक आने की क्रमबद्ध यात्रा।

वि. : एक सूत्र है—बहुजनहितकर चर्चा, दूसरा है—संघस्य संतुष्टिकरः। उसका जो संघ है, आचार्य उसे संतुष्ट करे। उसका बर्तव्य संतुलित हो। वह सबकी जरूरतों का ध्यान रखे कि किसे कागज चाहिये, किसे किताब चाहिये, किसे पिच्छी चाहिये, किसे कमण्डलु चाहिये। वह मार्गदर्शन और सहानुभूति दोनों एक साथ ले कर चले।

ने. : आधुनिकता के दौर से गुजरने के कारण इस समय आचार्य के कर्तव्य अधिक प्रखर हुए हैं; क्या करना चाहिये उसे इस चुनौती का सामना करने के लिए?

३. अंतरंग तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना), ध्यान; बहिरंग तप—अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंभयान, रस-परित्याग, विविक्त शैयासन, काय-क्लेश। धर्म—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य। आवश्यक—समता, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय। आचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, वीर्य। गुणियाँ—मन, वचन, काय।

वि. : एक बात है : यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' में आचार्य के स्वयं के आचरण पर बल दिया है फिर भी यह कहा है कि उसकी परसार्नालिटी/व्यक्तित्व बहुत मुन्दर होना चाहिये ताकि उसका समाज पर अच्छा प्रभाव पड़े। फिर कहा उसे कुलीन होना चाहिये। कुलीन क्यों होना चाहिये, ताकि उसके विचार पवित्र हों।

ने. : कुलीन होने की शर्त में 'कुलीन' शब्द संकीर्णता का द्योतक नहीं है; वह जातिवाची न हो कर गुणवाची है। यहाँ वह उदार/व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वि. : एक व्यापक शब्द है जिसके घेरे में आचार-विचार आदि की परम्पराएँ आ गयी हैं।

ने. : कुल मिला कर उसे संस्कारवान् होना चाहिये।

वि. : कुलीन तो वह हो ही; साथ-साथ—

ने. : सुशील, तत्पर, परिष्कृत, व्युत्पन्न आदि भी हो।

वि. : आपको क्या बताऊँ; आचार्य जब किसी को दीक्षा देते हैं तो अनेक तथ्यों की इक्वायरी करते हैं।

ने. : क्या पता लगाते हैं ?

वि. : जब कोई सोना खरीदता है तब यह नहीं कि पीतल पीला है तो उसे स्वर्ण मान कर खरीद ले; पहले कसौटी पर कसते हैं तब क्रय करते हैं। ऐसे ही आचार्य शिष्यों को दीक्षा देता है। यदि उसे शिष्य-संग्रह करना है, तो सारा कार्य बड़ी सावधानी से करना होता है। शिष्यों को सचित्त परिग्रह कहा है, और शास्त्रादि को अचित्त परिग्रह बताया है। आचार्य को इन दोनों का संग्रह करते रहना चाहिये।

ने. : किन्तु एक आचार्य के लिए 'परिग्रह'; यह तो अपने-आप में ठीक नहीं है—

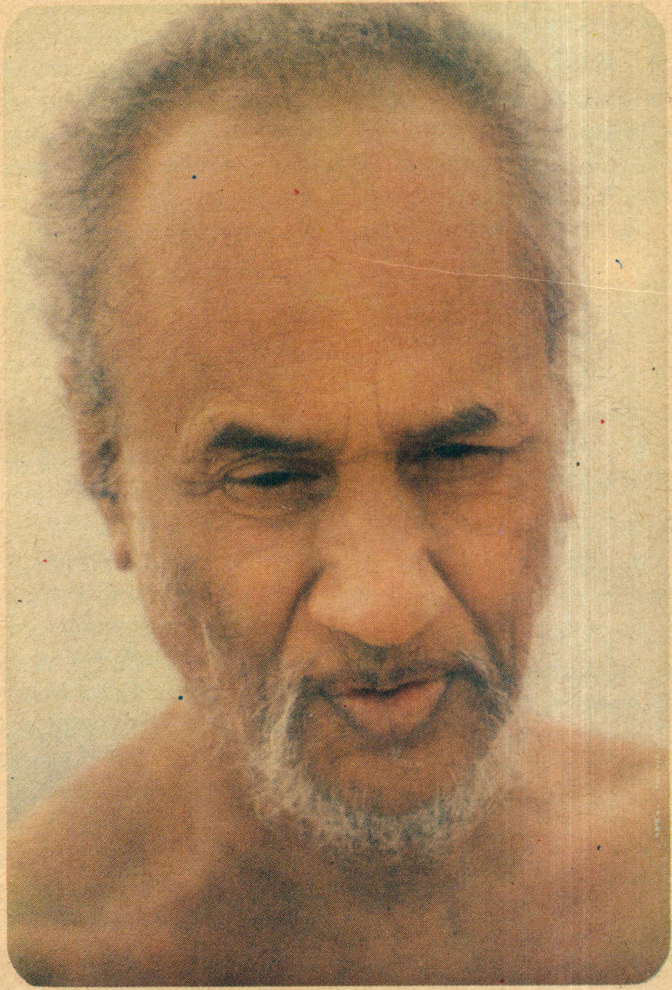
वि. : परन्तु यह द्रव्य परिग्रह है।

ने. : है तो आखिर परिग्रह; क्या एक अपरिग्रही के लिए यह उचित है ?

वि. : तो उसमें उन्होंने एक बात कही कि मुनि-दीक्षा हर किसी को नहीं देना है। बहरा हो तो नहीं देना है, गुंगा हो तो नहीं देना, बालक हो तो नहीं देना है, अतिवृद्ध हो तो नहीं देना, बहुत बड़ा कोई रोग उसे हो तो नहीं देना है, सरकार से किसी 'क्रिम-नल केस' में दण्डित हुआ हो तो नहीं देना है, अपने पीछे कोई कर्ज छोड़ कर आया हो तो नहीं देना है—माता-पिता/परिवार की अनुमति जिसे मिल गयी है उसे ही दीक्षा देनी चाहिये। और कई दोष बताये हैं—जिसकी स्मृति बहुत कमजोर हो, याद नहीं रहता हो; जिसकी बार-बार झूठ बोलने की आदत हो या चोरी करने की आदत हो उसे भी दीक्षा नहीं देना है अर्थात् दीक्षा देने से पूर्व दीक्षार्थी के आचरण की पूरी-पूरी तहकीकात करनी चाहिये।

ने. : पात्रता कस लेनी चाहिये।

वि. : पहले पात्रता की कसौटी करे और फिर उसे संघ में रख कर क्रमशः अध्ययन कराये, पढ़ाये, बताये कि शास्त्र कैसे रखना, वेष्टन कैसे बाँधना, चटाई कैसे बिछाना, स्वाध्याय के लिए कैसे बैठना; इत्यादि का प्रशिक्षण उसे बराबर दिया जाना चाहिये, और फिर यह भी देख लेना चाहिये कि इस सबके लिए उसकी शारीरिक क्षमता है या नहीं ? परख लेना चाहिये कि उसका शरीर-बल कैसा है और वह मुनिधर्म को आगे चल कर ठीक-से निभा सकेगा या नहीं ? दीक्षा के संबंध में 'धवल' की १३ वीं पुस्तक, 'प्रवचनसार' तथा अन्य इतर ग्रन्थों में कई महत्व की बातें कही गयी हैं; किन्तु इधर इन पर कोई लक्ष्य



नहीं दे रहा है यह दुःख और चिन्ता का विषय है।

ने. : जहाँ तक दीक्षा देने की बात है किसी भी साधक को साधु से आचार्य-पद तक ले जाया जा सकता है; किन्तु यदि कोई दीक्षित साधु गृहस्थ बनना चाहे तो उसके लिए क्या व्यवस्था है?

वि. : हाँ, साधु-पद छोड़ने की व्यवस्था भी हमारे यहाँ है। तीन अवस्थाएँ हैं—किसी ने दीक्षा ली और वह कुमार है, बाल ब्रह्म-चारी है तो तीन प्रावधान हमारे संविधान में हैं—पहला यह कि यदि उससे परीषह सहन नहीं होते हैं तो वह गृह-आज्ञा ले कर घर जा सकता है यानी पद छोड़ कर परिवार

में लौट सकता है; दूसरे, माता-पिता के इस आग्रह पर कि उनकी परिवार के लिए जरूरत है, आचार्य उसे पद-त्याग की अनुमति दे सकता है; और तीसरे यह कि यदि देश के लिए उसकी आवश्यकता है तो राजाज्ञा से राजा भी उसे पद छोड़वा कर ले जा सकता है; परन्तु ध्यान रहे ये तीनों स्थितियाँ कुमारावस्था-में-दीक्षितों के लिए ही बनती हैं।

ने. : यदि कुमारावस्था के अलावा कोई अन्य अवस्था है तो उन्हें मुनि/साधु-दीक्षा देंगे या नहीं ?

वि. : देंगे।

ने. : और यदि देंगे तो उन पर ये तीन व्यवस्थाएँ लागू होंगी या नहीं ?

वि. : नहीं होंगी।

ने. : अब आप कुछ ही दिनों में जब आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने जा रहे हैं तब कैसा अनुभव कर रहे हैं ?

वि. : देखिये, एक बात है—मेरा तो जीवन ही क्रमवद्ध रहा है। मैंने गुरुकुल-प्रणाली से शिक्षा प्राप्त की और उसके बाद २१ साल की उम्र में आचार्य महावीर-कीर्तिजी से क्षुल्लक-दीक्षा ले ली। क्षुल्लक-अवस्था में १७ साल अनेक साधु-सघों में रह कर मैंने कई अच्छी बातें सीखीं। १०-१२ साल आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के सान्निध्य में रहा। हम क्षुल्लक थे, वे तो बहुत बड़े मुनि-मनीषी थे—तो उनके पास रह कर भी हमने अनेक बातों का अनुभव प्राप्त किया। इन १७ सालों में हम देश-भर में भ्रमण करते रहे, किताबें देखते रहे, विद्वानों से मिलते रहे, मौन रखते रहे, पढ़ते रहे, और इतना सब होने के बाद परिपक्वता अपने में होने से आचार्य देश-भूषण महाराजजी से यहीं दिल्ली में १९६३ में उनके अमृत-हस्त से मुनि-दीक्षा ली। दीक्षा के बाद भी १०-१२ वर्ष सतत् मनन-

चिन्तन, ध्यान-अध्ययन में रत रहे। थोड़ा-सा समाज से लेने हैं तो उसे वापस लौटाना चाहिये इसलिए प्रवचन देते रहे; धर्म-प्रभावना के कारण कहिये या कहिये इस प्रवचन में भी मन को एक आनन्द प्राप्त होता है इसलिए। समय का सदुपयोग हो जाता है और उस समय हमारे परिणाम भी निर्मल रहते हैं—

ने. : बहुत-सी बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं।

वि. : हो जाती हैं। १२ साल बाद १९७४ में आचार्य देशभूषणजी महाराज ने हमारी इन सब बातों को देख कर दिल्ली में ही उपाध्याय-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। उपाध्याय-परिपाटी दिगम्बरों में लगभग समाप्त हो गयी थी। श्रावक-शिरोमणि साहू शान्तिप्रसादजी, पं. बल-भद्रजी आदि आचार्यजी के पास गये और प्रस्ताव किया कि उपाध्याय-पद को पुनरुज्जीवित करना चाहिये। आचार्य धर्म-सागरजी महाराज भी उस समय यहाँ थे; तो कम-से-कम १०० साधु-साधवियों के बीच आचार्यजी ने हमें उपाध्याय-पद पर अधिष्ठित कर दिया।

ने. : क्या आपसे पूर्व इधर के वर्षों में कोई उपाध्याय बना ?

वि. : नहीं; सैकड़ों सालों से कोई नहीं बना।

ने. : यानी दिगम्बरों में यह पद कई सदियों बाद पुनरुज्जीवित हुआ।

वि. : क्रमवद्धता से उपाध्याय-पद है। तो यह शुरूआत हुई। आचार्य देशभूषण महाराजजी ने इसे पुनरुज्जीवित किया, किन्तु आचार्य-पद के लिए यह पद कोई बाधा नहीं था।

ने. : फिर भी यह एक क्रान्तिकारी कदम तो था ही।

वि. : दूसरी बात, उपाध्याय-पद पर रहने से मैं अनेक क्षुल्लक, ऐलक, साधु-साधवियों को पढ़ाता रहा, बड़े-बड़े ३०-३०, ४०-४० साधुओं के संघों को स्वाध्याय कराता रहा, प्रतिक्रमण पढ़ाता रहा—फिर आचार्य देशभूषणजी महाराज ने हमें दो प्रायश्चित्त-ग्रन्थ भी दिये। कुछ स्वयं बताया, कुछ पढ़ने को दिया। संभव है उनके मन में रहा हो कि आगे चल कर इसे आचार्य-पद देना है इसलिए प्रायश्चित्त-ग्रन्थों का अध्ययन कराया हो।

ने. : तो इस तरह आपने प्रायश्चित्त-प्रक्रिया का अध्ययन किया।

वि. : हाँ, प्रायश्चित्त-ग्रन्थों का गहन अवलोकन करता रहा। फिर श्रवणबेळ-गोला में आचार्यजी का सान्निध्य रहा। और भी जगह उनके साथ रहा। वे अपने अनुभव की बातें सुनाते रहते थे। १७ दिसम्बर १९८६ को उन्होंने अपने शिष्यों को बुला कर हमें एक चिट्ठी लिखी कि हम आचार्य-पद छोड़ना चाह रहे हैं और आपको उस पर बिठाना चाहते हैं। तो हमने 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, स्वीकार है'—समाचार उन्हें भेज दिये पत्र द्वारा। उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। हमने कहा कि हम यह कार्य आपके पश्चात् करेंगे। आचार्य-पद के प्रतीक के रूप में—शास्त्रानुसार—उन्होंने एक पिच्छी भी नयी बना कर कोल्हापुर से इधर आ रहे एक जैन गृहस्थ^० के हाथ से भेज दी। नया कमण्डलु भी भेजा।

ने. : नये भेजना जरूरी है ?

वि. : हाँ, नये भेजना जरूरी होता है; क्योंकि उसकी कोमलता नष्ट नहीं होती, अहिंसा-की-दृष्टि से वह आवश्यक है।

ने. : उनका अपना कौमार्य होता है।

वि. : हाँ, ये ५ अप्रैल को भेजे। उसके बाद २८ तारीख की रात को साढ़े बारह

बजे सारे संघ को बुला कर उन्होंने घोषणा की कि मैंने विद्यानन्दजी को आचार्य-पद दिया है। यह सब उन्होंने चतुःसंघ के सम्मुख कहा।

ने. : जब पिच्छी-कमण्डलु अर्पित किये गये तब आपको कैसा अनुभव हुआ, कैसा लगा ?

वि. : अनुभव क्या—यही कि जिम्मे-दारी आ गयी है, महाराजजी की मुझ पर बड़ी कृपा है, उनका असीम स्नेह है, उन्हें लगा होगा कि यह हमारे पश्चात् हमारा संघ अच्छी तरह सँभाल लेंगे, समाज को मार्गदर्शन दे सकेंगे, ४२ साल से दीक्षित हैं, त्याग-तपस्या भी परिपक्व है, ६३ साल की उम्र में आचार्य-पद ग्रहण किया है।

ने. : आचार्यश्री को दीक्षित हुए लग-भग ५० साल हो चुके होंगे।

वि. : ५० से अधिक ही हुए होंगे।

ने. : आधी शताब्दी संपन्न होने को है। क्या अब आप अपने साधु-परिकर को बढ़ायेंगे ?

वि. : क्यों नहीं बढ़ायेंगे ? जब आचार्य पद हम ले रहे हैं तब सोच-समझ कर दीक्षाएँ भी देंगे। एक बात है : हमारे यहाँ मुनि-पद में क्षुल्लक आदि की दीक्षा देने की अनुमति है, किन्तु महाव्रती की, मुनि की दीक्षा मुनि-पद में नहीं दे सकते, वह अधिकार आचार्य को ही है। उपाध्याय-पद वाले शिक्षा-दीक्षा दे सकते हैं; किन्तु मुनि-दीक्षा आचार्य-पद से ही संभव है; तो मैं आर्यिका की, क्षुल्लिका की, मुनि की, ऐलक, क्षुल्लक की दीक्षा दे दूँ पर उन्हें, जो अपने जीवन के लिए उपकारक सिद्ध हो सकें। बहुत देखभाल करके दीक्षाएँ जरूर देंगे; किन्तु केवल साधुओं की संख्या नहीं बढ़ायेंगे।

ने. : संख्यात्मकता की अपेक्षा गुणा-त्मकता का मुख्यरूप से ध्यान रखेंगे ?

वि. : गुणवत्ता का मुख्यतया, क्योंकि—

ने. : ताकि योग्य व्यक्ति इस क्षेत्र में आये और पद-की-गारिमा बढ़ायें। मैं जानना चाहूंगा कि अब आप जैन समाज को कोई नयी दिशा देना चाहेंगे ?

वि. : नयी दिशा एक ही है कि जैन संविधान में कहा गया है कि श्रावक चाहे निर्गुण हो या सगुण उसकी अवज्ञा नहीं करती है; क्योंकि उससे भी धर्म का उपकार होगा, वह भी धर्म को गति देने में सहायक सिद्ध होता आया है। जैन आचार्य बड़े उदार थे; किन्तु उन्होंने दो बातों पर जोर दिया—‘सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥’—पृ. ९७/सागार धर्मामृत। गृहस्थ के दो धर्म हैं—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकोक्ति के अनुसार चलता है; किन्तु पारलौकिक आगम के अनुसार होता है। सभी जैनों को ऐसी लौकिक विधि मान्य होती है, जिसके पालन करने से सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रतों में दूषण न लगे। खान-पान की शुद्धि और अर्हन्त भगवान् के प्रति निष्ठा/आस्था—ये दो बातें यदि हों तो काल कितना ही बदले तो भी वह श्रावक, वह गृहस्थ, वह जैन अपनी चर्या को निभा सकता है। कानून कितना भी बदले, सारा काल बदले, परिस्थितियाँ बदलें—उसमें बस इन दो पर निष्ठा होनी चाहिये—शुद्ध खान-पान और अर्हन्त भगवान्/पंचपरमेष्ठी में अविचल श्रद्धा।

ने. : खान-पान की शुद्धि को थोड़ा स्पष्ट करें।

वि. : बात यह है कि भक्ष्याभक्ष्य का विवेक आज हममें नहीं रहा है। आज लोग अण्डे खा रहे हैं, मांस खाने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है, शराब पीने वालों की संख्या अधिक हुई है—तो खान-पान की

शुद्धि का मतलब है भक्ष्याभक्ष्य के विवेक की रक्षा करना। हमारे यहाँ कम-से-कम ३ म-कार (मद्य, मांस, मधु) का त्याग जरूरी बताया है। तो हमारे समाज का जो देखा-देखी पतन हो रहा है, हम शाकाहार के बारे में विशेषरूप में जोर दे कर, उसे रोकना चाहते हैं; क्योंकि यदि खान-पान से हम भ्रष्ट हो गये तो फिर हमारी संस्कृति बच नहीं सकेगी।

ने. : यह तो बहुत बड़ी बात होगी यदि हम अपने पतनोन्मुख संस्कारों की रक्षा कर सकें...

वि. : संस्कार बनाये रखना बहुत जरूरी है; क्योंकि जब तक हमारी रोटी सुरक्षित है, तब तक हमारी बेटी भी सुरक्षित है, बेटा भी सुरक्षित है, संस्कृति सुरक्षित है, साधु भी सुरक्षित है—और खान-पान न रहने के बाद तो हमारी संस्कृति विगड़ जाएगी।

ने. : आप क्या सोचते हैं खान-पान को सुरक्षित रखने में माता-पिता की कोई भूमिका है ?

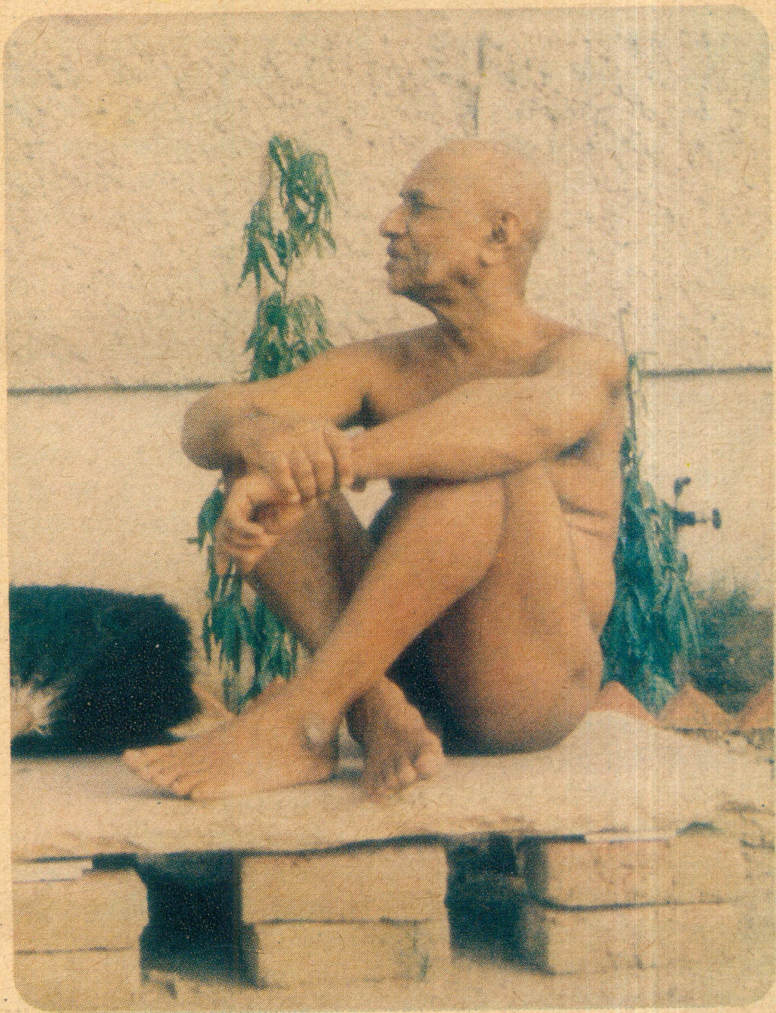
वि. : है; साधु-संस्था की भी भूमिका है। उसके कारण समाज के खान-पान पर आज भी नियन्त्रण है; क्योंकि साधु चाहे जहाँ आहार नहीं लेता, वह वहाँ आहार ग्रहण करता है जहाँ शुद्धि है, और भक्ष्या-भक्ष्य का विवेक है।

ने. : और अभी आपने जिस अर्हद्-भक्ति का जिक्र किया उस ओर भी श्रावक को झुकाना होगा।

वि. : बिल्कुल।

ने. : वह कैसे करेंगे ?

वि. : बात यह है कि, अर्हद्भक्ति के साथ-साथ श्रावकों का यह कर्तव्य भी है



कि वे साधु-संस्था की सेवा करें। उनके ज्ञानादि गुणों में वृद्धि कराते रहें। उनके अध्ययन की व्यवस्था करें। नये-नये दीक्षित हों ऐसे सज्जनों को भी हूँ। आशाधर सूरि ने कहा है कि जैनधर्म की परम्परा अवि-

च्छिन्न चलनी चाहिये। जैसे किसी की संतान नहीं है तो वे अपने पड़ोसी गुणवान्, सज्जन, शीलवान् के पुत्र को ले कर अपना वंश चलाते हैं; इसी तरह सज्जन सज्जनों को देख कर उन्हें साधु बनने के लिए प्रेरित

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/२५

करते हैं; क्योंकि यदि साधु-संस्था जीवित रहेगी तो समाज जीवित रहेगा; और देखो, जैसे किसी आदमी ने हाथ में लाठी ले ली तो लाठी पर उसका कोई उपकार नहीं है, किन्तु लाठी का उस पर उपकार है; इसी तरह साधु बनने के लिए प्रेरणा करना यह साधु पर उपकार नहीं है, पर साधु-संस्था के इस तरह से बने रहने से श्रावक पर उपकार है ताकि उसे मार्गदर्शन मिलता रहे; इसीलिए कहा है कि श्रावकों को चाहिये कि वे साधुओं की गुण-विवृद्धि की व्यवस्था करें। यह उनका कर्तव्य है। इसमें उनकी भलाई है।

ने. : आज सारे समाज में चारों ओर, श्वेताम्बरों और दिगम्बरों, में आचार्यों की संख्या बहुत अधिक है और वह बहुत तेजी से बढ़ रही है; इस संवन्ध में आपका क्या अभिमत है ?

वि. : बात यह है कि हमारी जो अविच्छिन्न आचार्य-परम्परा चली आ रही थी उसमें कई व्यवधान आ गये; साधु-संस्था भी बहुत क्षीण हो गयी और जब दुबारा साधु-संस्था में नवचेतना आयी तो यह धारणा बन गयी कि कोई साधु आचार्य बनने के बाद ही बड़ा हो सकता है, या उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है; इसलिए एक हवा ब्रही कि साल, दो साल की दीक्षा के बाद ही—न कोई अध्ययन, मनन नहीं, चिन्तन नहीं, चिन्तवन नहीं, योग्यता नहीं, वय नहीं, और दीक्षा दे दी—आचार्य बन बैठे। यह परिपाटी ठीक नहीं।

ने. : इसे रोकना चाहिये।

वि. : रोकना चाहिये। हमने आचार्य-पद चली आ रही परिपाटी से लिया है। आचार्य शान्तिसागरजी के शिष्य आ. पाय-सागरजी थे, आ. पायसागरजी के शिष्य आ. जयकीर्ति थे, जयकीर्तिजी की शिष्य-परम्परा में आ. देशभूषणजी महाराज हुए।

उन्होंने हमें यह पद दिया है—तो गुरु-शिष्य की एक गौरवशाली परिपाटी रही है। यह नहीं कि कोई भी आज दीक्षा ले ले और साल-छह महीने में आचार्य बन जाए और दो-चार को दीक्षा दे दे—

ने. : चली आ रही परिपाटी की गरिमा को बनाये रखना चाहिये।

वि. : रखना चाहिये। मेरे खयाल से अब यह परम्परा दुबारा व्यवस्थित होगी। मुझे विश्वास है यह काम जल्दी ही शुरू हो जाएगा।

ने. : एक अन्तिम प्रश्न कर रहा हूँ यह कि आज हमारी धार्मिक शिक्षा का जो स्वरूप है वह संतोषप्रद नहीं है; क्या आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने पर आप उसे कोई नयी दिशा देंगे ?

वि. : एक बात है : स्वतन्त्र पाठ-शालाएँ तो चल ही रही हैं, अब हमें पाठ्य-क्रम पर ध्यान देना होगा। उन जानकारियों के बारे में सोचना होगा जो जैनधर्म/जैन-दर्शन के बारे में पाठ्यपुस्तकों में प्रायः दी जाती हैं। हमें राष्ट्र के/समाज के हित में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, और ब्रह्मचर्य जैसे नैतिक जीवन-मूल्यों का व्यापक प्रचार-प्रसार करना चाहिये।

ने. : एक श्रावक को अच्छा नागरिक बनाने के लिए।

वि. : आदर्श नागरिक/आदर्श श्रावक बनने-बनाने का एक ही उपाय है—अहिंसा में आस्था; शान्ति, मैत्री, भाईचारे में विश्वास।

ने. : इससे क्या होगा ?

वि. : इसमें श्रावक के साथ-साथ साधु-संस्था का भी बड़ा उपकार है। यदि गुरु नहीं है, आचार्य नहीं है तो श्रावक-समाज पशु-समाज के समान हो जाएगा। हमारे आचार्यों ने कहा है कि गृहस्थों को रास्ता बताने के लिए सदाचारी और उच्च-कोटि के आचार्यों की जरूरत है।

ने : बालदीक्षाओं पर आपके विचार—

वि : मैंने बताया है आपको कि आचार्यों को बालदीक्षा नहीं देनी चाहिये; वृद्धदीक्षा भी नहीं देनी चाहिये; जो पालन न कर सके/निभान सके उसे भी दीक्षा नहीं देनी चाहिये। दीक्षार्थी में परिपक्वता आ जाए इसलिए पहले उसे संघों में रख कर पढ़ाते हैं। जैसे हमारे यहाँ 'वोट' देने के लिए भी एक उम्र निश्चित है २१ साल, विवाह के लिए भी एक वय तय है २१ साल—उसी तरह मैं दीक्षा के बारे में सोचता हूँ। जब तक दीक्षार्थी स्वयं यह न जान ले कि मैं दीक्षा क्यों ले रहा हूँ, मुझे इस जीवन-शैली को क्यों अपनाना चाहिये, दीक्षा से क्या मेरा आत्मकल्याण संभव है—कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर दीक्षार्थी को खुद में-से अवश्य मिलना चाहिये। साधुओं में भी तीन तरह के साधु होते हैं—एक तो साधु 'होते' हैं, दूसरे 'बन' जाते हैं, तीसरे 'बनाये' जाते हैं। जो बनाये जाते हैं वो न तो अपना कल्याण कर पाते हैं, न दूसरों का।

ने : वे विवशता में, किसी लाचारी में बनते या बनाये जाते हैं, होते वे नहीं हैं—

वि : बन जाते हैं, बना लिये जाते हैं—

ने : किसी खास उद्देश्य से बना लिये जाते हैं।

वि : बना देते हैं; तो भैया, भगा के लाये हुए, किराये से लाये हुए ऐसे लोगों को दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

ने : जो स्वयं प्रेरणा से बनते हैं वे—

वि : वे सांस्कारिक होते हैं। उन्हें संस्कार दे कर आदर्श साधु बनाया जा सकता है, इसलिए यह नहीं कि किसी को भी दीक्षित कर लिया जाए। प्रथम कोटि का साधु वह है जो स्वयं की प्रेरणा और परिपक्वता से बनता है।

ने : किन्तु प्रथम कोटि का तो वह है जो 'होता' है।

वि : वह तो है ही। उसमें पिछले जन्म के संस्कार होते हैं, दृढ़ता होती है, वह अपने सिद्धान्तों पर चट्टान की तरह अटल होता है।

ने : जो पारखी आचार्य होगा वही तो पता लगा पायेगा कि आखिर कौन कैसा है और कितने पानी में है?

वि : बिल्कुल; भावुकता में आ कर बहुत सारे लोग दीक्षा ले लेते हैं या लेना चाहते हैं और बाद में दुःखी होते हैं। ऐसे लोगों को न तो दीक्षा लेनी चाहिये और न ही उन्हें दीक्षा दी जानी चाहिये।

ने : कोई भावुक न हो, स्पष्ट/कुछ परिपक्व, और रुचिसंपन्न हो इसका ध्यान रखना चाहिये।

वि : भावुकता काव्य में चल सकती है, संसार में चल सकती है; धर्म में, साधु-संस्था में, शिक्षा-दीक्षा में नहीं चल सकती। शिक्षा में भले ही कुछ चल जाए; किन्तु दीक्षा में तो वह किसी हालत में नहीं चल सकती। साधु-जीवन की तीन सीढ़ियाँ हैं—शिक्षा, भिक्षा, दीक्षा। शिक्षा यह कि धर्म का नॉलेज/ज्ञान उसे हो, भिक्षा कैसे करना यह वह जानता हो, दीक्षा का नंबर तीसरा है—उसमें सभी आ जाता है।

ने : किसी भी तरह मूलतत्त्व की पकड़ उसे होनी चाहिये।

वि : वह होना चाहिये फिर आगे अपने पुरुषार्थ से अजित करता जाए। और भिक्षा इसलिए कि उसे आहार-विहार का ज्ञान होना चाहिये। तीन बातें हैं—आहार, विहार, और नीहार। आहार कौन-सा लेना? कैसा लेना? कैसे लेना? अपने शरीर/अपनी प्रकृति के अनुकूल क्या है—यह देखना। विहार जो है—

ने : दिनचर्या।

वि : और नीहार* अर्थात् स्वास्थ्य की रक्षा। जो अपने स्वास्थ्य की रक्षा नहीं

कर सकता, मानिये, वह सिद्ध-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। वह रोगी हो कर दुःखी होगा; इसलिए वह एक पेड़-जैसा धीरे-धीरे बारिश, धूप और बाहरी वातावरणों से—

ने. : पक जाता है—

वि. : पक जाता है और फिर फल देता है। तो ऐसी ही वृक्ष की-तरह-की होनी चाहिये साधु-चर्या।

ने. : वृक्ष-जैसी।

वि. : हाँ, वृक्ष-की-तरह-की होनी चाहिये। आज वृक्ष लगायें और कल वह फल दे दे— यह नहीं हो सकता; और हो सकता है गर्मी पड़ने से वह सूख ही जाए और भी थोड़ी-सी असावधानी हो जाए तो विफल हो जाए। जैसे सारे वृक्षों को पार करना होता है ऋतुओं को वैसे ही साधुओं को भी अपनी चर्या-रूपी ऋतुओं को, वातावरण रूपी ऋतुओं को पार करने के लिए अनुभव लेते रहना चाहिये। शास्त्रों में, 'धवलाकार' ने बताया है कि ज्ञान प्राप्त करने/शिक्षा के लिए पहली बात यह है कि प्रथम चरण का ज्ञान गुरु से लिया जाए, उसके बाद शिष्य स्वयं अपनी बुद्धि से/आत्मचिन्तन से करे, तीसरे चरण में वह अनुभवी विद्वानों से उसका पाक कर ले; और चौथे चरण में काल पा कर परिपक्व अनुभव प्राप्त करे— काम का यही है। पक्व ज्ञान आत्महित के लिए कारण है, दूसरों के लिए भी— साधु-जीवन में केवल किताबी ज्ञान से गाड़ी नहीं चल सकती—यहाँ तो अनुभव-पुष्ट ज्ञान चाहिये। वह ज्ञान प्राप्त करना है तो अनुग्रह साधना करे। जब तक कष्ट नहीं उठायेगा, परिश्रम/पुरुषार्थ नहीं करेगा तब तक ज्ञान टिकेगा नहीं। ज्ञान, वास्तव में वही टिकता है, जिसे कष्ट से प्राप्त किया जाता है। और फिर परिपक्व होने के बाद—

ने. : वह सरस हो जाता है। पका हुआ फल ही रसवान् होता है।

वि. : और कच्चा फल तो खट्टा होता है; मुंह टेढ़ा हो जाता है उसे खाते समय। इसीलिए ज्ञान में परिपक्वता आनी चाहिये। लोग कहते हैं : उस पेड़ को फल लगते हैं, इस पेड़ के फल मीठे हैं—वे कहते हैं इसी तरह बुद्धि-के-पेड़ पर भी फल लगते हैं? कौन-से फल लगते हैं? ज्ञान के, जिनका उपयोग आप आत्महित में कर सकते हैं। आत्म-कल्याण के लक्ष्य को कभी भूलना नहीं चाहिये।

ने. : वह सबमें बड़ा है।

वि. : अपना हित करते हुए ही आप परहित में सहयोगी बन सकते हैं, मार्ग दिखा सकते हैं। आत्महित छोड़ कर जो आचार्य मात्र परहित में निरत हो जाता है वह आचार्य आचार्य-पद पर टिक नहीं सकता।

ने. : यह उसका निर्देशक सिद्धान्त है।

वि. : यह मूलधन है। यह नहीं कि आप संघ के पालन-पोषण में ही अपना सारा समय बिता दें। संघ के पालन के लिए भी स्वयं को अपने पाँवों पर खड़ा रखना होगा, स्वरूपाचरण करना होगा— उसकी शिक्षा देनी होगी। और फिर यदि शिष्यों को कठिनाई आ जाए तो थोड़ा उनका मार्ग-दर्शन करे; नहीं तो अपनी तपश्चर्या छोड़ कर पूरी शक्ति संघ के परिपालन में खर्च करना आचार्य के लिए दुःखदायी होता है। 'अपने कल्याण को छोड़ कर पर-कल्याण में लगना' ऐसा उपदेश हमारे आचार्यों ने नहीं किया है। स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण को ही उन्होंने मुख्यता दी है। अकेले परहित को अनुचित मार्ग कहा गया है।

ने. : कोई सूक्त वाक्य दो-तीन शब्दों का दीजिये।

वि. : शास्त्रों में लिखा है, और मैं भी अपने अनुभव से कहता हूँ कि बच्चों को धर्म के संस्कार अवश्य देने चाहिये। यह कर्तव्य माता-पिता का है। संस्कार-रचना के बाद ही उन्हें पाठशालाओं में, स्कूलों में, कॉलेजों में लौकिक शिक्षा के लिए भेजना चाहिये।

ने. : धार्मिक संस्कार बहुत जरूरी हैं; अन्धविश्वास नहीं।

वि. : शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि माँ-बाप यदि अपने बच्चों को सिर्फ णमोकार महामन्त्र का ही ज्ञान करा देते हैं तो समझिये उन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान करा दिया।

ने. : ज्ञान—

वि. : हाँ, ज्ञान। वही जरूरी है। अज्ञान से अँधेरा घना होता है, ज्ञान से बाहर-भीतर प्रकाश बनता है; इसलिए आज

हमारा एक ही उद्देश्य होना चाहिये— 'सामाजिक संगठन'।

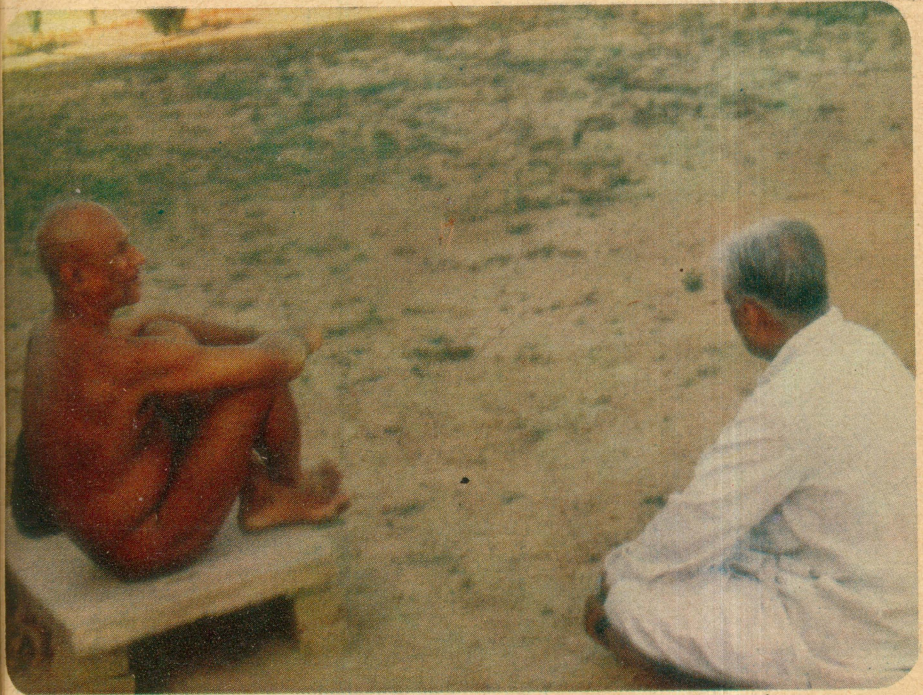
ने. : सामाजिक एकता—

वि. : सामाजिक संगठन के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। इसके रहने से साधु-संस्था भी मजबूत होती है।

ने. : 'हम एक हों' और 'संस्कारवान् बने'—यह होना चाहिये हमारा प्रेरक वाक्य।

वि. : सामाजिक संगठन न होने से अब साधु-संस्था में भी शिथिलताएँ आने लगी हैं। यदि इन्हें दूर करना है तो सुदृढ़ सामाजिक संगठन बहुत जरूरी है। जब समाज बँट जाता है तब साधु भी शिथिलता का रास्ता अपना लेते हैं।

ने. : अर्थात् हमारा नारा हो : 'सब एक हों और संस्कारवान् बने'।



आचार्यत्व की सात सीढ़ियाँ

एक

'आचार्य' बहुत हैं
आगे भी होंगे—
किन्तु
'आचार्यत्व' को प्राप्त करना
नहीं है इतना आसान—
क्योंकि
आचार्य के सच्चे स्वरूप से
नहीं है हमारी
ठीक-ठीक पहचान ।
बहुत-बहुत कठिन है
'आचार्यत्व' को
आचरण में उतारना
अपने भीतर के
अहम् को मार कर
'शून्यत्व' तक
पहुँचने की साधना ।

दो

जैसे महासागर
फेंकता रहता है
अपने भीतर की मलिनता
तट पर ;
और
छिपाये रहता है
'असली मोती'
अपने भीतर
वैसे ही
आचार्य
छोड़ता चलता है
भीतर के विकारों को

परत-दर-परत ;
और सहेजे रखता है
'अनासक्ति का मोती'
युगों-युगों तक ।
आचार्य के हृदय की गहराई
अगम और अथाह है ;
मचमूच कितने हैं ऐसे
जिन्हें
ऐसे आचार्यत्व की चाह है ।

तीन

हजार-हजार पंछी
अनवरत
उड़ते रहते हैं
असीम आकाश में—
और
शस्त्रों से लदे वायुयान
फेंकते रहते हैं
जहरीला धुआँ
बेरहमी से
लेकिन
एक भी रेख खिंचती नहीं
आकाश की छाती पर ;
वह रहता है
ज्यों-का-त्यों
निष्कलंक ।
ठीक इसी तरह
जगत् के दुख-सुख
द्वेष-राग
बना नहीं पाते कोई चिह्न
आचार्य की चेतना पर ;
क्योंकि वह होता है
मात्र दृष्टा
यानी 'वीतराग' ।

चार

आचार्यत्व का
एकमात्र सम्बल है
यम-नियम
अर्थान् कठोर संयम
और
इसी ज्योति के प्रकाश में
संभव होती है
अपने भीतर की
गहन, अध्यात्म-यात्रा -
क्रमशः
घटती जाती है
कृपायों के
अन्धकार की मात्रा
'संयम'
यानी कठोर तप-
साँस-साँस करती रहे
'णमोकार' का अखण्ड जप ।
ससार के सभी भोगों से ऊपर
कैवल्य का आनन्द
'अनन्त चतुष्टय' का
मुक्त-छन्द ।

पाँच

'आचार्यत्व'
कोई नयी प्राप्ति नहीं
जो खरीदी जा सके
दुनिया के बाज़ार में-
वह तो
अपने ही मूल स्वरूप की
आत्म-उपलब्धि है ।
जहाँ निःशेष हो जाते हैं
सभी स्वार्थ-
बच रहता है केवल परमार्थ ।

‘सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् चारित्र’
में लीन।

फिर भी, सबके कल्याण में तल्लीन ।

‘विश्वबन्धु’ हो कर भी
असंग

जिसकी परम शान्ति को
कोई वासना कर नहीं सकती भंग ।

ऐसे ज्ञान-चक्षु की एकाग्र दृष्टि

रहती है अपने लक्ष्य से एकाकार

शुद्ध चैतन्य-निर्गुण, निराकार ।

जगत् के आकर्षक दृश्यों से परे

बस एक ही बिम्ब

आँखों में छिपाये

‘त्रि-रत्न’ की शाश्वत छवि

पुतलियों में बसाये ।

थोथे आडम्बरो

जर्जर रूढ़ियों से

आचार्य का नहीं होता

कोई संबन्ध

प्रदर्शन, जुलूसों

और जयजयकारों से

वह करता नहीं

कोई अनुबन्ध ।

उसके व्यक्तित्व में

शेष नहीं बचता

अहंकार का

एक भी कण

पंच महाव्रतों का

पर्याय-मात्र

होता है

उसका आचरण ।

जैसे
 शब्द और अर्थ के
 संयोग पर
 टिकी है काव्य की महिमा,
 वैसे ही—
 कथनी और करनी के
 अ-द्वैत में
 छिपी है आचार्य की गरिमा ।
 उसके रोम-रोम में
 गूँजता है
 मुक्ति का संगीत—
 'बुद्ध' की कथना
 और 'अरिहन्त' की अहिंसा
 उसके आचरण में
 होती है सहज अभिव्यक्त
 इसीलिए वह
 'वीर' कहलाते हुए भी—
 होता है विनम्र और विनीत ।
 उसका मौन भी
 चुम्बक की तरह
 जन-जन को खींचता है,
 उसका सान्निध्य
 हर दुखी मन को
 वाणी के अमृत से सींचता है ।
 ऐसा वह

ऊर्जा-केन्द्र

दूर दूर तक बिखेरता है
 निष्काम आचरण की
 सुगन्ध
 जो
 पीड़ित मानवता के घावों पर
 बनती है
 शीतल चन्दन—

और
 सतत् काटती रहती है
 हम सबके भव-बन्धन । □□

तुम हो एक आम आदमी

यह धर्मगुरु की गद्दी है,
इसे मत छुओ मित्र,
केवल दूर से देखो ।
तुम्हारे छूने से
इसकी उज्ज्वल आभा
म्लान हो सकती है;
क्योंकि तुम एक आम आदमी हो,
और यह तुम्हारे इस्लियार में नहीं है
कि तुम किसी धर्मगुरु का
सिंहासन छुओ,
या उसके बारे में
कोई टिप्पणी दो ।
तुम्हें तो केवल उनके उपदेश
मानना है — फिर वे चाहे
तुम्हें शोषण के मन्त्र लगे;
या कि जन-मानस को
विभ्रमित करने के मन्त्र ।
हमारी यही परम्परा रही है
गौरवशाली ।

तुम्हारे श्रम की कमाई
तुम्हारी भक्ति के जरिये
इन्हीं धर्मगुरुओं के पास
पहुँचती है ।
यह सोने-का-सिंहासन
उन्हीं पैसों का है,
पर तुम सिंहासन को
छू नहीं सकते;
क्योंकि पैसा, पैसा होता है
और हाथ, हाथ
तुम जैसे कम-ज्ञानी, और
महाज्ञानी गुरुओं का
क्या साथ ?
तुम कमाओ वे खायें ।

तुम काम पर विजय पाओ,
वे रास रचायें ।
मैंने कहा न—
तुम्हें उनकी बातें ही माननी हैं ।
उनका आचरण नहीं देखना है ।
हमारे बुजुर्गों ने कभी नहीं देखा ।
हमारी यही परम्परा रही है
गौरवशाली ।

उनके चेहरे देखे हैं ?
उनके चेहरे का आब,
आध्यात्मिक साधना का नहीं,
अच्छा खा कर मुटाने का, चर्बी का है ।
बड़े औद्योगिक घरानों की तरह
ये कुछ धर्मगुरु भी 'केपिटलिस्ट' हैं ।
इनके मठों में करोड़ों का धन है,
और स्वर्ण बे-लिस्ट है ।
पर कभी आपने सुना/पढ़ा
कि किसी प्राकृतिक या दैवी आपदा
या कि संकट के समय में,
इन मठाधीशों ने
एक पैसा भी निकाला हो
देश के हित में, या
जनता के लिए ।
जब इनकी गद्दी को खतरा होता है,
तब कथित धर्म संकट में पड़ जाता है ।
दान-के-बगैर, इनका
आध्यात्मिक रथ अड़ जाता है ।
ये आम आदमी को भेज रहे हैं
मुक्ति की राह में ; ।
किन्तु इनकी तिजोरियों में
पड़ा है जीवन्त 'परिग्रह'
मुक्ति की चाह में ।

—रघुनन्दन चिले

बहुत बढ़ जाते हैं जब

क्रुद में/पद में/प्रतिष्ठा में
अपने से बड़ा
कोई भी व्यक्तित्व देख कर
हीनता का बोध नहीं होता
मगर अपने सापेक्ष
किञ्चित् भी छोटा व्यक्ति
देख कर विराट लगता है
अपना व्यक्तित्व
और बौना लगता है
वह व्यक्ति ।

बहुत बढ़ जाते हैं
जब अहंकार/तृष्णा के अम्बार
करते हैं आवरित जब तन को/मन को
छुप जाते हैं सब दोष स्वतः के
अपनी नज़र का सामना नहीं करते ।

उठा कर जब कोई अँगुली
दिखाता है कोई दोष
तो सहज व्यक्त होता है रोष
उस व्यक्ति के प्रति

मगर दोष नहीं दिखता ;
छिद्रान्वेषी मन
अपनी रिक्तताओं को
भरता तो है
मगर झाँक कर दूसरों की जिन्दगी में
खुश होता है
औरों के छिद्र देख कर/दिखा कर ।

—धीरेन्द्र प्रघान

चन्द्रमा-की-तरह-की-ठंडक, अपूर्व समता-भाव और सहिष्णुता - आचार्य के ऐसे गुण हैं, जो उसके व्यक्तित्व को अप्रतिम बनाते हैं, अनुकरणीय बनाते हैं। एक और गुण है, जिसे ले कर इस लेख का शीर्षक दिया गया है। वह समन्दर की तरह होता है - उतना ही अतल, उतना ही गंभीर; उसके भीतर चलता रहता है दिन-रात गहन मन्थन - चर्निग; इस तरह कुछ कि छाछ और मक्खन विविक्त होते रहते हैं आपोआप। इसे हम भेद-विज्ञानपरक मन्थन कहेंगे। समन्दर का स्वभाव है कि वह तलातल का मल निरन्तर बाहर उलीचता रहता है। आचार्य भी वही करता है। प्रतिक्रमण में वह जो भी भीतर अस्वीकरणीय/असंगत पाता है, उसे वह मिथ्या करता रहता है। प्रतिक्रमण-के-माध्यम से वह अपने प्रमादों/अपनी असावधानियों/और/अस्वच्छताओं को बाहर उँडेलता रहता है और प्रत्याख्यान की सूक्ष्म प्रक्रिया द्वारा अनागत के सुराख बन्द करता है। संकल्प करता है कि ये सारे दोष या सारी स्वलनाएँ मेरा द्वार आगे से नहीं खटखटायेंगी। प्रतिक्रमण/प्रत्याख्यान-जैसी सूक्ष्म समीक्षाओं से उसका चित्त विनम्र, निर्मम और अकिंचन हो जाता है और उसमें एक विशिष्ट आध्यात्मिक उर्वरता प्रकट होने लगती है। जिस तरह सागर की सतह पर लहर-पर-लहर आती है और उसके दोष तट पर फेंकती जाती है वैसे ही गहनतम अन्तःसमीक्षा के फलस्वरूप आचार्य के भीतर जमा मल भी आपोआप बाहर फिकता रहता है और उसके तलातल निर्मलीकरण-की-प्रक्रिया में विमलतर/स्वच्छतर होते रहते हैं। आचार्य/समन्दर की उपमा न सिर्फ सटीक है अपितु उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को बड़ी जीवन्तता में हमारे सामने रखती है।

एक आचार्य का सबसे पहला दायित्व है आत्महित। इससे यदि वह चूकता है तो जिस ध्येय से वह साधुत्व में दीक्षित हुआ है, वह तुरन्त परास्त हो जाता है; अतः हर हालत में वह अपनी निजता को खोजता है और उसमें स्थिर होने के प्रयत्न करता है। वह भीतर-भीतर स्व-समय में गहरे उतरता है और अपने संघ की लघुत्तम इकाई तक को इस यात्रा में आने के लिए प्रेरित करता है।

आचार्य संघ-नायक होता है। उसके प्रति संघवर्ती साधु उत्तरदायी होते हैं। उसे नये साधकों को दीक्षाएँ देनी होती हैं। समाज के प्रति भी उसके कई कर्तव्य होते हैं।

इमने देखा है कि विगत तीन-चार दशकों में विभिन्न जैन श्रमण-संघों में काफी टूट-फूट हुई है। कई साधु अपने मूल संघों को छोड़ कर बाहर

निकल आये हैं और उन्होंने अपने अलग-अलग गण-गच्छ गढ़ लिये हैं। कई अपसरित साधु रास्ता ही भटक गये हैं और साधुवेष में असाधु हुए हैं— कई राजनीति-की-खुशामद में लग गये हैं। इससे जहाँ एक ओर जैन साधुओं की छबि विकृत और घूमिल हुई है, वहीं दूसरी ओर शिथिलताओं के भी कई मामले सामने आये हैं। ऐसा लगता है: जो लोग इधर के वर्षों में आचार्य बने हैं, या किन्हीं कारणों से बनाये गये हैं, वे यह ही नहीं जानते कि 'आचार्य कैसा होता है, उसमें कौन-से गुण होने चाहिये'। इस तरह पदारूढ़ आचार्य अपनी असहनशीलता, कचाई और अदूरदर्शिता के कारण अपने शिष्य-भरिकर को नहीं सँभाल पाते हैं। मामूली असहमतियों की वजह से इन/ऐसे आचार्यों का शिष्यवर्ग छिन्न-भिन्न हो जाता है और उस उद्देश्य को भूल जाता है, जिससे प्रेरित हो कर उसने दीक्षा ली थी।

साधु को सर्प की उपमा भी दी गयी है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं— एक, आर्जव; दो, अपने लक्ष्य पर एक-एक पल की होशियारी। कहा जाता है— साँप जब अपनी बामी में लौटता है तब अपनी तमाम वक्रताओं/कुटिलताओं को छोड़ देता है; इसी तरह कोई साधु जब भी आत्मबोध-की-प्रक्रिया में खुद में लौटता है तब अपनी लौकिकताओं/अपने कौटिल्य को बाहर छोड़ देता है; साधु का और कौटिल्य का दूर का भी कोई रिश्ता नहीं है (नहीं होना चाहिये)। साधु के कई मायने हैं जिनमें से एक है मानक (स्टेण्डर्ड)। साधु मानक होता है उन सबके लिए जो उसके इर्दगिर्द होते हैं और जिनसे प्रेरित हो कर वह इस बाने को धारण करता है। दूसरे, सर्प के संबन्ध में यह कहा जाता है कि उसकी आँखों में जो भी दृश्य बन जाते हैं, वे कम-से-कम छह मास तक ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। उन्हें प्रयत्न करने पर भी मेटा नहीं जा सकता। इसी तरह साधु के अन्तश्चक्षुओं पर उसके ध्येय के जो दृश्य बनते हैं वे सतत् बने रहते हैं। वह उनका पल-भर भी विस्मरण नहीं करता।

साधु-संघों में जो डिफेक्शन (अपसरण) — संघ छोड़ कर एक बागी/विद्रोही के रूप में बाहर निकल आने की वृत्ति बनी है— हम सब उनके कारणों पर विचार करते हैं तो आचार्य के कुछ गुण हमारी आँखों के सामने आ जाते हैं। आचार्य में आचारवत्त्व होना चाहिये। सोचें यदि अग्नि में अग्नित्व न हो तो क्या हम उसे अग्नि कहेंगे? यदि अश्व में अश्वत्व न हो तो क्या हम उसे अश्व कह सकेंगे? नहीं कह पायेंगे। जो भी/जिनकी भी निजता है, वह उसी की वजह से जाना जाता है। जब हम अपनी पहचान ही खो बैठते हैं तब फिर रह ही क्या जाता है? इसलिए सबमें पहले तो आचार्य में

आचारवत्त्व होना चाहिये यानी वह सिर-से-पैर तक आचारवान् हो यह आवश्यक है। आचार्य यदि स्वयं ही उन नियमों को तोड़ेगा जो उसके संघ के नियामक हैं तो फिर उसे आचार्य कौन कहेगा/मानेगा? आज के आचार्यों की सबसे बड़ी खामी यह है कि वे जो भी करते हैं कोरमकोर करते हैं, नक्शे-की-नदी की तरह—जो होती नदी है, किन्तु जिसमें पानी की एक बूंद भी नहीं होती—उन्हें यथार्थ में जीना चाहिये और वह सब अवश्य करना चाहिये जो वे दूसरों से/अपने संघस्थों से कराना चाहते हैं। आज स्थिति यह है कि हमारे बहुत सारे आचार्य अंग्रेजों की तरह राज करने लगे हैं। उनकी नीति है—फूट डालो, राज करो (डिक्हाइड एण्ड रूल)। वे साधुओं में फूट डालते हैं, श्रावकों में फूट डालते हैं और अपनी गद्दी पर बने रहते हैं। धर्म में इस तरह की राजनीति उचित नहीं है। आज यहाँ वह है; यह हमारा दुर्भाग्य है; इसलिए सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिये कि हम आचार्य को—चाहे वह किसी भी गण-गच्छ का हो—आचारवान् होने पर विवश करें और छानबीन करें/स्वाध्याय करें कि आचार्य के क्या दायित्व होते हैं और परम्परा में उन्हें किस तत्परता/और सावधानी से निभाया जाता रहा है।

यदि कोई आचार्य अपने दायित्व को निभाने में विफल है, तो उसे दो टूक बता देना होगा कि उसके आचार में फलाँ कमी है—दूर करो या पद छोड़ो। हम ऊपर कह आये हैं कि धर्म 'आचारप्रभव' है। वह आचार में-से-जन्मता है, विकसित होता है; और इस आचार का सर्वोत्तम/सर्वोपरि वाहक-तत्त्व है—आचार्य; अतः हमें एक तो यह देखना होगा कि आचार्य कौन हो सकता है और दूसरे यह कि साधु-दीक्षा के लिए कदम-उठाये मनुष्यों में-से कितने ऐसे हैं जो वास्तविक हैं और कितने ऐसे हैं जो किसी सामाजिक या पारिवारिक दबाव के कारण दीक्षा लेना चाहते हैं, या दीक्षा लिये हुए हैं।

गड़बड़ी तब होती है जब आचार्य से अधिक प्रतिभावान् साधु संघ में उदित/प्रकट होता है। सच्चे आचार्य तो इस सूर्योदय को झेल जाते हैं और प्रसन्न होते हैं; किन्तु ऐसे आचार्य जो छल-प्रपंच में फँसे-उलझे होते हैं, भय से काँप उठते हैं। वे सोचने लगते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि उनको गद्दी खतरे में पड़ जाए? वास्तव में इस तरह का सोच भारतीय गुरु-परम्परा के लिए कलंक है; क्योंकि असली गुरु वह है जो अपने शिष्य को उन्नत हुआ देख उल्लासित होता है और उसे शुभाशीर्वाद देता है, उसकी मदद करता है कि वह आगे, और-और आगे बढ़े—किन्तु आज ऐसा नहीं है। यही कारण है कि आज प्रायः सभी साधु-संघों में अराजकताएँ और खलनाएँ हैं तथा सुस्तियाँ और प्रमत्तताएँ बढ़ रही हैं।

इसी अंक में (पृष्ठ ४१-५१) हमने एक 'आचार्य शब्द-कोश' दिया है, जिसमें यह बताया गया है कि एक आचार्य में कौन-कौन से छत्तीस गुण होने चाहिये। हमें विश्वास है हमारे पाठक इस कोश का भरपूर उपयोग करेंगे और आचार्य के व्यक्तित्व को उसकी तमाम गहराइयों में जानने/पहिचानने का पुरुषार्थ करेंगे।

हमारा ख्याल है कि साधु-संघों को व्यवस्थित करने के लिए श्रावकों का 'जानना' और 'जागना' बहुत जरूरी है। श्रावकों को चाहिये (श्राविकाओं को भी) कि वे स्वाध्याय करे और यह जाने कि एक साधु, एक उपाध्याय, एक आचार्य कैसा होता है? उसमें कौन-कौन-से गुण होते हैं, जो उसे आचार्य की प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। वह एक सामान्य साधु से किस तरह भिन्न होता है। यहाँ हम अध्ययन की शुरुआत के लिए आचार्य के कुछ गुणों पर विचार कर रहे हैं। आचार्य को 'प्रायश्चित्तवेदी' (व्यवहारी) होना चाहिये। व्यवहार प्रायश्चित्त-वाची शब्द है। वह इसलिए इस शास्त्र को जाने ताकि अपराधों/प्रमादों को ले कर खुद सतर्क रह सके और अपने शिष्यवर्ग को भी सावधान/होशियार रख सके; अवसर आने पर वह अपने शिष्य-साधु का 'उत्पीलन' कर सके एवं स्वयं किसी शिथिलता का शिकार होने पर, या उसके अनिवार्य होने पर तत्संबंधी समीचीन प्रायश्चित्त ले सके।

आचार्य का 'उत्पीलक' होना आवश्यक है। उत्पीलन आचार्य का एक महत्त्वपूर्ण गुण माना गया है। उत्पीलन का अर्थ है कि शिष्य-साधु यदि किसी स्वल्पना में फँस गया है तो उसके गूढ़ दोषों/अपराधों को, जिन्हें वह शर्म या संकोच के कारण बाहर नहीं आने दे रहा है, बाहर लाये। यह कार्य एकान्त में ही संभव है। कभी कोई योग्य आचार्य अपने शिष्य-साधु की दोष-मीमांसा किसी श्रावक या साधु के सामने नहीं करता; वह उप-गृहन की लय में उत्पीलन करता है। एक निष्णात/आत्महितरत आचार्य संसक्त साधु को सत्पथ पर लाने के लिए उसके भीतर से दोषों को बाहर निकालता है और कोशिश करता है कि शिष्य-साधु उन्हें पूरे अभय में मान ले। आत्म-स्वीकृतियों (कन्फेसन्स) से दोषों की तीव्रता घट जाती है। स्वीकृति के कारण अपराधों-की-धार कम हो जाती है और फिर वे संबन्धित व्यक्ति का उतना अपकार नहीं कर पाते; इसलिए एक अनुशासनप्रिय आचार्य को शिष्य के लिए आदर्श बनना चाहिये और उसका परिपूर्ण विश्वास संपादित करना चाहिये। इस तरह का विश्वास-संपादन तभी संभव है जबकि आचार्य में अपने शिष्य या शिष्यों के प्रति गहन समत्व और अतल वत्सलता हो (मोह नहीं)।

जैसे ही/जब भी कोई आचार्य समत्व-से-स्खलित होता है, समस्याओं के कई-कई सर्प उससे आ लिपटते हैं और वह उनके विषदश में तड़पने लगता है। उत्पीलन के साथ ही आचार्य में एक गुण होना चाहिये 'अपरिस्त्राविता' का। वह इतना 'अपरिस्त्रावी' हो जितना कि एक दुर्ग होता है। चाहे जैसी स्थिति हो, एक आचार्य को दोषी क्षपक के दोषों का सार्वजनिक उल्लेख नहीं करना चाहिये। कहा गया है कि एक आचार्य को लोहे के लाल तपे गोले की तरह होना चाहिये जो पानी को अविलम्ब सोख जाता है। इसी तरह एक आचार्य को अपने शिष्य के संबन्ध में सारे दोषों को स्वयं में सीमित कर लेना चाहिये ताकि शिष्य को पूरा विश्वास हो जाए कि जो भी होगा उसके हित में होगा। आज ऐसा नहीं है; इसलिए संघ टूट रहे हैं

(शेष पृष्ठ ८६ पर)

आचार्य शब्द-कोश

(शब्द-संख्या : 215)

संकेत : प्रा. = प्राकृत भाषा का शब्द; दे. = देखिये ।

अक्ष = आत्मा, जीव; प्रा. अक्ख ।

अचेलकत्व = सर्वपरिग्रह-त्याग का उपाय; निर्ग्रन्थता; स्वाभाविक वेष ।

अणगार = प्रा.; अनगार; जैन साधु; जैन मुनि; जिसने समस्त घर-बार छोड़ दिया है ।

अनगार (अन् + अगार) = जिसका कोई घर-बार नहीं है, वसुधा ही जिसका कुटुम्ब है; साधु, मुनि, संयत, तपस्वी; दे. अणगार ।

अनशन (अन् + अशन) = उपवास; आहार-त्याग; चारों प्रकार के आहार का परित्याग ।

अतिशय = महिमा; विशिष्टता; श्रेष्ठता; प्रभाव ।

अधःकर्म = वे कार्य जिनके करने में हिंसा होती है; साधु ऐसे किसी कार्य/पदार्थ की जो अधःकर्म-युक्त हो मन, वचन, काय से कभी अनुमोदना नहीं करते ।

अनाहार = पिण्ड-भेद; चटाई, पाटा आदि ।

अनुदिश = एलाचार्य; वह जैन मुनि जो गुरु के पश्चात् चारित्र्य आदि को संघवर्ती मुनि, आर्यिका आदि को बताता है ।

अनुप्रेक्षा = किसी बात का बारंबार चिन्तन; ये १२ हैं — इन्हें बारह भावना भी कहा गया है (१. अनित्य, २. अशरण, ३. एकत्व, ४. अन्यत्व, ५. संसार, ६. लोक, ७. अशुचित्व, ८. आस्रव, ९. संवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म १२. बोधिदुर्लभ ।

अन्तराय = व्यवधान; विघ्न; ये काक-अमेघ्यादि ३२ हैं; यहाँ मुनि के आहारादि में होने वाला विघ्न ।

अपरिस्रावी = शिष्य-साधु द्वारा एकान्त में प्रकाशित दोषों (कन्फेसन्स) को प्रकट न करने वाला आचार्य; आचार्य में अपरिस्राविता का अपूर्व गुण होता है, वह जैसे तपा हुआ लोहे-का-गोला चारों ओर से पानी का शोषण कर लेता है, ठीक वैसे ही क्षपक के दोष सुन कर उन्हें स्वयं में सीमित कर लेता है — पूछने अथवा न पूछने पर दूसरों पर किसी भी स्थिति में प्रकट नहीं करता ।

अपाय = भय; दोष; अनर्थ; मोक्ष-संबन्धी साधक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति ।

अवश = साधु, मुनि, संयत ।

असही = इस शब्द का साधुजन वसतिका से निकलते समय उच्चारण करते हैं (दे.नि:सही) — इसका वसतिका में प्रवेश करते समय उच्चारण करते हैं) ।

आइरिय = प्रा.; आचार्य; दे. आचार्य ।

आकिंचन्य = निराकुलता, निश्चिन्तता, ममत्व-रहितता तथा निर्द्वन्द्वता का भाव ।

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/४१

आगन्तुक=अतिथि साधु ।

आचार=आचरण; अनुष्ठान; यथाशक्ति निर्मलीकृत सम्यग्दर्शनादि में किया गया यत्न; ये ५ हैं— दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्र्याचार, तपाचार, वीर्याचार ।
आचारवत्त्व=आचार्य के ३६ गुणों का परिपालन (श्वेताम्बर/दिगम्बर दोनों ने आचार्य के ३६ गुण माने हैं—संख्या एक है, किन्तु तफ्सीलें अलग-अलग हैं। दिगम्बर मान्यता के अनुसार ये हैं— १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्तियाँ; श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार हैं— ५ इन्द्रियों को वश में करना, ९ बाइयुक्त ब्रह्मचर्य का पालन, ५ महाव्रत, ५ आचार, ५ समितियाँ, ३ गुप्तियाँ तथा ४ कषाय-मुक्तियाँ; आशाधरजी के अनुसार ये हैं— ८ आचारवत्त्व आदि गुण, १० स्थितिकल्प, १२ तप, ६ आवश्यक; 'भगवती आराधना' में इन्हें इस तरह गिनाया गया है— ८ ज्ञानाचार, ८ दर्शनाचार, १२ तप, ५ समितियाँ, ३ गुप्तियाँ; एक अन्य मतानुसार ये हैं २८ मूलगुण और ८ आचारवत्त्व आदि गुण, या १० आलोचना के गुण, १० प्रायश्चित्त के गुण, १० स्थितिकल्प, और ६ जीत गुण); सामान्यतया जो मुनि पंचाचारों का स्वयं पालन करता है और शिष्यों को इनका उपदेश देता है उसे इस गुण का धारक माना गया है ।

आचारी=पाँच आचारों का आचरण करने/कराने वाला साधु; आचार्य ।

आचार्य=संघनायक; साधु-संघ का अनुशास्ता, उसका दोष-निवारक; इसके ३६ गुण बताये गये हैं; दे. आचारवत्त्व ।

आचार्या=प्रमुख साध्वी या आर्यिका; दे. आचारवत्त्व—इसमें भी ३६ गुण अपेक्षित हैं ।

आचेलक्य=नग्नता; दिगम्बर/श्वेताम्बर दोनों ने 'अचेल' शब्द के अलग-अलग अर्थ लिये हैं, दिग. मतानुसार 'अचेल' का अर्थ 'वस्त्राभाव' है, जबकि श्वेताम्बर मतानुसार 'अल्प वस्त्र' या 'कम मूल्य वाले वस्त्र' है ।

आधारी=असाधारण श्रुतज्ञान से संपन्न; प्रायश्चित्त-शास्त्र का ज्ञाता, जिसमें आधारवत्त्व (अपराधी मुनियों को प्रायश्चित्त देने के विषय में प्राप्त विशेष गुण होना चाहिये) ।

आपृच्छा=किसी भी प्रयोजन (कायोत्सर्ग, आहार, ग्रामान्तरण आदि) के प्रारम्भ में विनयपूर्वक गुरु से की गयी पृच्छा ।

आयापायदिक्=प्रकारक; आचार्य; आलोचना करने वाले क्षपक के गुण-दोषों का प्रकाशक आचार्य ।

आयार=प्रा.; आचार; दे. आचार ।

आरातीय=आचार्य ।

४२/ आचार्य लघुविशेषांक

आराधना = सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप का उद्योतन, उद्यवन, धारणा/निर्वहण, सिद्धि, और निस्तरण (संबन्धित शब्दों को यथास्थान देखें) ।

आर्जव = कुटिलता छोड़ कर निर्मल अन्तःकरण से किसी कार्य में प्रवृत्त होने का भाव; निष्कपटता; सरलता ।

आयिका = साध्वी ।

आवश्यक = मुनियों के ६ दैनंदिन कर्तव्य; अवश्य करणीय; ये हैं - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ।

आवास = संस्तर-स्थान; वसतिका ।

आसिका = पाप-क्रियाओं से मन को उदासीन करना; वसतिका में से निस्सरण-काल की स्वीकृति ।

आहार = भोजन; गोचरी; पिण्ड; साधु की भोजन-ग्रहण-विधि; (दिगम्बर मुनि आहार पाणि-पात्र में लेते हैं, श्वेताम्बर साधु उसे भिक्षा द्वारा काष्ठ-पात्र में लाते हैं, इसे 'गोचार' या 'गोचरी' भी कहा जाता है) ।

इच्छाकार = स्वरूप में रुचि; रत्नत्रय में सोल्लास प्रवृत्ति (संयम के उपकरणों, ज्ञानोपकरणों, तथा आनापानादि के योगों में मन की प्रवर्तना); संयमादि के उपकरण माँगते समय 'इच्छाकार' किया जाता है ।

उज्जन = परित्याग; विसर्जन ।

उत्तम = श्रेष्ठ; अन्तिम; अज्ञान-रहित; -ार्थ = मोक्ष, मोक्षमार्ग ।

उत्पीलक = गूढ़ दोषों/अतिचारों को बाहर निकालने में समर्थ साधु/आचार्य ।

उद्गमसूर = सूर्योदय का समय ।

उद्दिष्ट पिण्ड-त्याग = द्वितीय कल्प; साधु द्वारा उसके निमित्त अथवा उद्देश्य से तैयार आहार न लेना; संकल्पित आहार ।

उद्यवन = सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, और तप में एकमेक/तद्रूप हो कर वर्तन; आत्मा की सम्यग्दर्शनादि में परिणति ।

उद्योतन = सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, और तप में आयी मलिनताओं/विकृतियों का निष्कासन, या चित्त का निर्मलीकरण; शंका, कांक्षा आदि दोषों का निवारण; यथार्थ वस्तु-ज्ञान के कारण विपरीत ज्ञान को अनुपस्थिति ।

उपकरण = वस्तु; जिसके द्वारा उपकार हो; संयम-उपकरण (पिच्छिका/पुच्छणी), ज्ञान-उपकरण (पुस्तक, ग्रन्थ, लेखनी आदि), तप-उपकरण (कमण्डलु, आहार आदि) - इनके लिए 'इच्छाकार' होता है ।

उपदेशाचार्य = मोक्षमार्ग की दिशा बताने वाला आचार्य, जो पहले मुनिधर्म का तदनन्तर श्रावकधर्म का उपदेश देता है ।

उपधि = पिण्ड-भेद; पीछी, ग्रन्थ आदि; उपकरण; प्रा. उवहि ।

उपसप्त=गुरुकुल/आम्नाय में गुरुओं के पादमूल में 'मैं आपका हूँ' के कथन के साथ आत्म-निवेदन/आत्मार्पण/शरणागति; ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए अन्य गुरु आदि के पास जाना; 'उपसंपदा' नामक सामाचार।

उपसंपदा=क्षपक द्वारा वन्दनापूर्वक, सविनय दोष-रहित आलोचना करते हुए दर्शन, ज्ञान और चारित्र में निःशुल्क प्रवर्त होने की इच्छा करना।

उपस्थापन=निर्विकल्पता में वापिसी/प्रत्यावर्तन; दे. छेदोपस्थापन।

उवज्जाय=प्रा.; उपाध्याय; दे. उपाध्याय; जिन-प्रणीत पदार्थों के रत्नत्रय-संयुक्त भ्रूरीर उपदेशक; श्रुतज्ञ।

उवसंपदा=प्रा.; उपसंपदा; दे. उपसंपदा; 'उपसंपा' नामक सामाचार।

उपाध्याय=मुनियों को अध्ययन-अन्वेषण कराने वाला; साधु के २८ मूलगुणों का धारक होने के साथ ११ अंग और १४ पूर्व का वेत्ता; श्रुताभ्यासी।

उपाय=साधन, मुक्ति, प्रयत्न, आलम्बन (अपाय=अलगाव, वियोग)।

ऊनोदर=कम आहार करना; तप-भेद।

ऋजुप्राज्ञ=सरल और खूब समझदार।

ऋषि=ऋद्धि-प्राप्त साधु; उत्तम चारित्र का धारक; सर्व पापों को नष्ट करने वाला (परमर्षि=अहन्त, केवलज्ञानी)।

ऐलक=११वीं प्रतिमा का धारक; उत्कृष्ट श्रावक; 'क्षुल्लक' को इससे छोटा कहा गया है; क्योंकि यह नियम से केशलौच करता है, पिच्छिका रखता है, और पाणि-पात्र में आहार लेता है; दे. क्षुल्लक।

कमण्डलु=शौच-उपकरण; शुद्धि-उपकरण।

कल्प=प्रा. कप्पो; विवेकपूर्वक/पूरी सावधानी के साथ बाह्य वस्तुओं का उपयोग।

कायगुप्ति=आत्मा की शरीर-संबन्धी क्रिया की कारणभूत क्रिया से निवृत्ति; (काय=शरीर नहीं, वरन् शरीर-संबन्धी क्रिया/चेष्टा; गुप्ति=निवृत्ति)।

कायोत्सर्ग=काया से ममत्व/मोह का त्याग; अहंकार/ममकार रूप संकल्प का त्याग, 'व्युत्सर्ग' नामक तप।

काष्ठ-संस्तर=साधु के सोने के लिए लकड़ी का पाटा।

कुल=गुरु-संतान; दीक्षाचार्य का शिष्य-परिकर/समुदाय।

कृतिकर्म=साधुओं की दैनंदिन (दैनिक) क्रियाओं का विधि-विधान; छह आवश्यकों का परिपालन तथा गुरु-विनय।

क्षपक=प्रा. खमग; जैन तपस्वी; चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला साधु; मोहनीय कर्म के क्षय में प्रवृत्त मुनि।

क्षमण=प्रा. खमण; सहन करना; तपश्चर्या; उपवास।

क्षमा=प्रा. खमा; क्रोध का अभाव; १० धर्मों में-से प्रथम; पर-समरस भाव; अ-क्रोध।

क्षुल्लक—दे. ऐलक; शब्दार्थ छोटा; छोटा साधु; श्रावक की ११ भूमिकाओं में सर्वोत्कृष्ट भूमिका; एक कोपीन और चादर का धारक, पात्र-भोजी जैन साधक।
गच्छ—श्रमण-समूह; चातुर्वर्ण्य श्रमण-संघ; ३ पुरुषों का समुदाय 'गण' कहलाता है और इससे बड़ा 'गच्छ'; आचार्य-कुल; गुरु-परिवार।

गण—स्थविर-संतति; ३ पुरुषों/श्रमणों का समूह।

गणधर—गण का प्रधान; दे. गण।

गण-नायक—साधु-संघाधिपति; गणधर; दे. गण।

गणहर—प्रा.; गणधर; दे. गणधर।

गणि (गणी)—गणधर; गण का प्रधान; ११ अंग का ज्ञाता; गच्छ-नायक; आचार्य।

गणिणी—दे. गणिनी।

गणिनी—आयिका-गण की प्रधान; दे. गण।

गुप्ति—रागादि की निवृत्ति—ये तीन हैं:—मन, वचन, काय।

गृहस्थाचार्य—गृहस्थोचित क्रियाओं को आगमोक्त रीति से संपन्न कराने वाला व्रती गृहस्थ; इसे भी दीक्षित किया जाता है।

गोचरी—आहार, भिक्षा।

ग्लान—व्याधि-पीड़ित अथवा जिसकी शक्ति क्षीण हुई है वह साधु।

चातुर्मास—वर्षावास, वर्षायोग, चौमासा; दे. वर्षायोग।

चारित्राचार—पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में अ-कषायरूप प्रवृत्ति; स्वाभाविक मुख के आस्वाद-स्वरूप चित्त का निश्चल होना; हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह का त्याग एवं अहिंसा आदि में सुदृढ़ प्रवृत्ति।

छेद—छिन्नता; दोष; सुराख; पृथक्करण की क्रिया; व्रतभंग की स्थिति में व्यवहार/प्रायश्चित्त से निज आत्मा में सुस्थित होना; प्रायश्चित्त द्वारा दोष-परिहार (छेदोपस्थापन)।

छेदसूत्र—प्रायश्चित्त-शास्त्र।

छेदोपस्थापन (छेद—उपस्थापन)—व्यवहार चारित्र्य; सविकल्प चारित्र्य, सावधों से स्वयं को छुड़ा कर शुद्धात्मा में उपस्थापन; बड़ी दीक्षा; (व्रतभंग होने पर तत्संबन्धी शुद्धि; यह क्रिया बाह्य और अंतरंग दो प्रकार की है; क्योंकि तपोरत श्रमण क्षण-प्रतिक्षण विकल्पमुक्त होता हुआ छेदोपस्थापित होता है। यह एक सूक्ष्म अंतरंग प्रक्रिया भी है)।

जितपरीषह—साधु जिसने पीड़ाओं/विघ्नों पर विजय प्राप्त कर ली है; दे. परीषह।

जितेन्द्रिय—इन्द्रियों को जीतने वाला, उन पर काबू पाने वाला।

जीत—एक प्रायश्चित्त-भेद; अशुभ कर्मरूपी मैल से होने वाली मलिनता/अस्वच्छता को अतिशय शुद्ध करना—उसे पूरी तरह दूर करने का प्रयत्न करना।

ज्ञानाचार=काल (स्वाध्याय-काल), विनय (शास्त्र-विनय), उपधान (पूजा-संस्कार पूर्वक पाठ), बहुमान, अनिहू नव (गुरु तथा अधीत/पठित शास्त्र का नाम प्रकट करना), अर्थ, व्यंजन, और तदुभय से संपन्न आचरण।

ज्ञान=प्रा.; ध्यान; दे. ध्यान।

तत्त्व=अध्यात्म-रहस्य; वस्तु-स्वरूप; आत्मा का स्वरूप; वस्तु का यथावस्थित स्वभाव।

तथाकार=गुरु के प्रति शिष्य का स्वीकृतिपरक कथन - 'ऐसा ही है' (तथेति)।

तप=इच्छा-निरोध; विषयों का निग्रह; कर्म-क्षय के लिए सम्यक् प्रयत्न; ये १२ हैं, ६ बहिरंग=अनशन, अवमौदार्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त शोयासन, काय-क्लेश; ६ अंतरंग-प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

तपाचार=दे. तप; बारहों तपों को धारण करते हुए निजस्वरूप में विजयन (प्रतपन)।

तीर्थ=जिसके द्वारा तिरा जा सके; 'सब अनेकान्तात्मक है' इस प्रकार की आस्था/बोध ही तीर्थ है; वस्तु का स्वरूप-निश्चय; यात्रा-स्थान; घाट; प्रवचन; प्रा. तित्थ।

तृणसंस्तर=साधु के सोने योग्य निर्जन्तुक तृण-राशि; पुआल का बना बिछौना।

त्याग=देह और भोगों से उदासीन होना; स्व-पर-भेद को जान कर पर-परिग्रह का परित्याग।

दर्शनाचार=सम्यक्त्व के ८ गुणों - निःशक्ति, निष्काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना - को आचरण में प्रकट करना।

दान्त=पंचेन्द्रियों का निग्रह करने वाला; साधु, मुनि, श्रमण, संयत, तपस्वी।

दिक्षु=दीक्षा लेने का अभिलाषी।

दिगम्बर=नग्न साधु; दिशाएँ ही जिसकी वस्त्र हैं ऐसा तपस्वी।

दीक्षा=प्रव्रज्या; वैराग्य की उत्तम/उदात्त भूमिका में ज्ञाता-दृष्टा के रूप में प्रवेशानुमति, जो किसी आचार्य द्वारा दी जाती है।

दीक्षा-दान=दीक्षा देने की क्रिया।

ध्यान=एक ही वस्तु में मन की स्थिरता; मन की चंचलता का निग्रह; प्रा. ज्ञान।

धर्म=स्वभाव; कर्तव्य; अतीन्द्रिय आनन्द; जो स्वभाव में धारण करे वह; ये १० हैं=क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किकन्य, ब्रह्मचर्य; गति; एक द्रव्य।

नरसिंह=अनगार, साधु।

निगंठ=प्रा.; निर्ग्रन्थ; दे. निर्ग्रन्थ।

निमन्त्रण=किसी वस्तु - पुस्तक/कमण्डलु आदि की आवश्यकता होने पर गुरु अथवा साधर्मि से सविनय याचना।

निर्ग्रन्थ = मुनि, साधु, निष्परिग्रही; यथाज्ञातरूप-धर; रत्नत्रय-रूप।

निर्ग्रन्थी = स्थविरा, साध्वी, आचार्या।

निर्यापकाचार्य = सल्लेखना संपन्न कराने वाला आचार्य, जो संघ के अलावा होता है; वह आचार्य जिसके पादमूल में समाधिमरण का पुरुषार्थ किया जाता है; सूत्रार्थज्ञ, व्यवहारविद्, तथा पंचाचार में अप्रमत्त प्रवृत्त सल्लेखना दिलाने वाला आचार्य (नियमतः एक निर्यापक एक ही क्षपक को ग्रहण करता है, निर्यापक परिचारक साधु होता है, उत्कृष्टतः इनकी संख्या ४८ कही गयी है)।

निर्वाह (निर्वहण) = रत्नत्रय/तप का निराकुल वहन; सम्यग्दर्शनादि का निराकुलता-पूर्वक आचरण।

निषिद्धिका = दे. निषेधिका।

निषेधिका = 'निःसही' कहते हुए सम्यक्त्व में स्थिर होने या वसतिका में प्रवेश करने का भाव; वसतिका में प्रवेश करते समय की सूचना या अनुमति (कंदरा, पुलिन, गुफा इत्यादि जन्तु-रहित स्थानों में प्रवेश के समय इसे करते हैं तथा उनसे निकलते समय 'आसिका' करते हैं)।

निस्तरण = समाधिपूर्वक मरण; रत्नत्रय का आमरण निर्दोष परिपालन इस तरह कुछ कि वह मृत्यूपरान्त साथ जा सके।

पंचसूना = खंडनी (मूसल), पेषणी (चक्की), चूल्हा (अग्नि), उदकुम्भ (मटका आदि), प्रमार्जनी (बुहारी) इनसे सदैव जीवसमूह का घात होता है अतः साधु को श्रावक को इनसे बचना चाहिये।

पंचाचार = पाँच आचार - दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, वीर्य; दे. यथास्थान।

पञ्जोसवणकम्पो = प्रा.; पर्युषणाकल्प; वर्षाकाल के चार महीनों में एक स्थान पर रहना; वर्षायोग को दसवाँ कल्प (पद्य या पाद्य) कहा गया है।

परीषह = पीड़ा, विघ्न, व्यवधान - ये २२ हैं।

पर्या = निषद्यका/पंचकल्याणक स्थानों की उपासना।

पापश्रमण = आचार्य-संघ को छोड़ कर एकल भ्रमण करने वाला साधु।

पिच्छिका = संयम-उपकरण; दिग्म्बर मुनि की पिच्छिका मयूर-पंखों से तथा श्वेताम्बर साधु की ऊन से बनती है (ध्यान रहे कार्तिक मास में मोर आपोआप पंख छोड़ देते हैं); प्रतिलेखन-उपकरण; पिच्छिका में ५ गुण होते हैं - रज/पसीने का अग्रहण, मृदुता, सुकुमारता, कम वज्रन।

पिच्छी = पीछी, पुंछनी; पिच्छिका; दे. पिच्छिका।

पिण्ड = आहार।

पिण्डशुद्धि = आहार-शुद्धि (आहार का ४६ दोषों से मुक्त होना जरूरी है)।

पीछी = दे. पिच्छिका; पुंछनी यह श्वेताम्बर साधुओं की ऊन से तथा दिग्म्बर मुनियों की मोर-पंखों से बनी होती है।

प्रकल्प=प्रा. प्रकल्प; उत्तम आचरण; व्यवस्थापन।

प्रकारक=क्षपक का मार्गदर्शन करने वाला आलोचना के लिए उद्यत क्षपक के गुण-दोषों का प्रकाशक; आचार्य।

प्रतिक्रमण=दोष लगने पर उसका समीक्षण, शोधन एवं परिहार; स्वयं में वापसी; पूर्वकृत दोषों का पुनरवलोकन।

प्रतिपृच्छा=जो भी बड़ा काम/अनुष्ठान करना हो उस सिलसिले में प्रवर्तक स्थविरादि से पूछना तदनन्तर सधर्मा साधुओं से पूछना; सधर्मा को लौटाये गये उपकरणों को प्राप्त करने के लिए पुनः पूछना।

प्रतिलेखन=मयूर-पिच्छिका/ऊर्ण-पुंछनी से जीव-हिंसा का निवारण करना।

प्रतिलेखना=दे. प्रतिलेखन; अवलोकन; प्रतिलेखन की प्रक्रिया।

प्रतिष्ठाचार्य=वह श्रावक जो श्रावकीय गुणों से युक्त हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग में कुशल हो, प्रतिष्ठा की लक्षण-विधि का जानकार हो, एवं श्रावकाचार (उपासकाध्ययन) में स्थिरबुद्धि हो।

प्रतीच्छा=वाचना-श्रवण; आचार्य द्वारा प्रतिपादित सूत्रार्थ को सुनना।

त्याख्यान=भविष्य में दोष न करने का संकल्प; आगामी (अनागत) काल के लिए अयोग्य का त्याग।

प्रवचन=चारित्र्य; -माताएँ=ये ८ हैं (५ समितियाँ+५ गुप्तियाँ), जो मुनि के रत्नत्रय की माता की तरह रक्षा करती हैं।

प्रवर्तक=साधु-भेद; वे साधु जो ज्ञान में अल्प हैं, किन्तु जिन्हें ऐसे आचार का ज्ञान है, जिससे संघ-की-मर्यादा बनी रह सकती है।

प्रवर्तिनी=अधिष्ठात्री साध्वी।

प्रायश्चित्त=व्यवहार; मुमुक्षु की प्रवृत्ति-निवृत्ति; दे. व्यवहारी।

प्रायश्चित्तवेदी=प्रायश्चित्त-शास्त्र का विशेषज्ञ/जानकार।

प्रासुक=निर्जन्तुक।

बालमुनि=नवदीक्षित अथवा पूर्वापर विवेक-रहित साधु।

बालाचार्य=उपाचार्य; उत्तराधिकारी आचार्य; गुरु अपने शिष्य-समुदाय में-से जिसकी स्व-पद पर नियुक्ति करे।

ब्रह्मचर्य=ब्रह्म में रमणता; स्त्री अथवा पुरुष (यथास्थिति) का त्याग; निर्मल ज्ञान-स्वरूप आत्मा में लीन रहना।

भदन्त=साधु, मुनि, तपस्वी; जो सर्व कल्याणों को प्राप्त है।

भिक्षू=प्रा.; भिक्षुक, साधु, मुनि; दे. भिक्षु।

भिक्षा=आहार, गोचरी; साम्य-रस में निमग्नता; लाभ-अलाभ में निराकुल, दातार पर कोई अतिरिक्त बोझ न आये इसका ध्यान रखते हुए, मौन रह कर, स्वाद के प्रति निरपेक्ष, यथालब्ध, उदरपूर्ति के लिए साधु-द्वारा लिया गया आहार।

भूमिसंस्तर=साधु के शयन-योग्य शुद्ध/निर्जन्तुक भूमि ।

मनोगुप्ति=मन की रागद्वेष से परावृत्ति; रागद्वेष का त्याग; समय या शास्त्र का अभ्यास; समीचीन ध्यान ।

मार्दव=मृदु का भाव; निरभिमान; मद-रहित होने की स्थिति; १० धर्मों में-से द्वितीय ।

मार्ग=प्रा. मगो; मोक्ष का उपाय; सम्यक्त्व; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र; रत्नत्रय ।

मार्गफल=प्रा.: मगफल; मोक्ष, निर्वाण ।

मासकल्प=प्रा. मासकल्प; प्रत्येक ऋतु में १-१ मास ठहरना; एक स्थान में एक महीने रहने का विचार ।

मिथ्याकार=अपराधों से विविक्त होना (जं दुक्कडं तुं मिच्छा); 'व्रतादि में जो मेरे अतिचार लगे हों, वे मिथ्या हों' - इस तरह का कथन; दुष्कृतों का मिथ्याकरण (न्यूट्रलाइजेशन) ।

मुनि=जो स्व-पर की अर्थसिद्धि के वेत्ता हैं; रत्नत्रय के परम आराधक ।

मुमुक्षु=मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला ।

यति=१३ प्रकार के चारित्र में यत्नवान्; जितेन्द्रिय, संन्यासी, श्रमण, मुनि, भट्टारक शास्त्रीय दृष्टि से वह मुनि जो उपशम या क्षपक श्रेणी में अवस्थित हो ।

रस-परित्याग=बहिरंग तप का एक भेद; दूध, दही, घी, तैल, गुड़, लवण इन छह रसों का अथवा एक-एक का त्याग; कड़ुआ, कसैला, खट्टा, मीठा इनमें-से किसी एक का त्याग ।

राजपिण्ड=राजा, राज्य, या अमीरों द्वारा दिया गया आहार ।

लाघव==लोभ-रहितता; लोभ की अनुपस्थिति ।

लिंग=बाह्य चिह्न या पहचान; वेष; साधु का बाह्यवेष ।

वचनगुप्ति=असत्य आदि से निवृत्त वचन; मौन व्रत; समस्त असत्य भाषा का परिहार ।

वर्षायोग=वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान (वृक्षमूल योग); पाद्य नामक १० वाँ स्थिति कल्प ।

वर्षावास=वर्षाऋतु में साधु का चार महीनों के लिए किसी एक स्थान पर रुकना ।

वसतिकासोधु-वास; साधु के ठहरने का स्थान ।

वाचना=जीवादि पदार्थों का निरूपण; निर्दोष ग्रन्थ अथवा उसके अर्थ का उपदेश अथवा दोनों ही उसके पात्र को देना; शक्ति के अनुसार अर्थ-निरूपण; शिष्यों का पाठन/अध्यापन ।

वातरशना=साधु, मुनि; वायु जिनकी मेखला (करधनी) है ।

वारण=निषेध, मनाही ।

वार्षिक योग=वर्षयोग; प्रायः आषाढ सुदी १० से कार्तिक सुदी १५ तक; चातु-
मास; आषाढ पूर्णिमा से संपूर्ण कार्तिक पर्यन्त की अवधि ।

वास्तव्य=संघस्थ साधु ।

विज्ञान=चारित्र्य ।

विष्णाण=प्रा.; दे. विज्ञान ।

विनय=तप-भेद; पूज्य पुरुषों का आदर; रत्नत्रय के धारक पुरुषों के प्रति नम्र
वृत्ति; कषायों और इन्द्रियों को नम्र करना ।

विविक्त शैयासन=तप-भेद; असंयतों की संगति से बचने के लिए विविक्त वसतिका
में वास; चित्त की व्यग्रता का निराकरण; एकान्त, जन्तु-रहित, जन-विहीन घर
आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य/स्वाध्याय के निमित्त रहना ।

विहार=ग्रामानुष्ठान भ्रमण; देश-देशान्तर में गमन ।

वीतराग=सिद्ध; जिनका राग नष्ट हो गया है ।

वीर्याचार=५ आचारों में-से अन्तिम; स्व-शक्ति के अगोपन की वृत्ति; अपनी शक्ति को
प्रकट कर मुनिव्रत का आचरण; आचार की रक्षा के लिए स्वशक्ति का अगोपन ।

वेयावच्च=प्रा.; वैयावृत्य; गुणी पुरुषों के संकटापन्न होने (किसी दुःख या विपदा
में आ पड़ने) पर निर्दोष विधि से उसका संकट दूर करना; रोगादिक से खिल्ल
साधु की परिचर्या (तीमारदारी) ।

व्यवहारी=प्रायश्चित्त-शास्त्र का अनुभवी ज्ञाता; व्यवहार-पटु ।

व्युत्सर्ग=तप-भेद, जिसमें अहंकार/ममकार के त्याग का संकल्प होता है; कायोत्सर्ग;
एक प्रायश्चित्त, जिसमें काया-का-उत्सर्ग करते हुए ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन
एक पक्ष, एक मास आदि काल तक स्थित रहा जाता है ।

व्रत-परिसंख्यान=तप-भेद; भोज्य वस्तु या काल आदि का गणनापूर्वक नियम;
आहार-चर्या में परिसंख्यान ।

शिक्षा=शास्त्राध्ययन; श्रुत का पठन-पाठन ।

शिष्य=शिक्षा ग्रहण करने में तत्पर विनयी साधक ।

शिलासंस्तर=क्षपक के सोने योग्य चट्टान; प्रकाश में अवस्थित शिलारूप संस्तर
(बिछौना) ।

शुद्धि=दोष/अतिचार होने पर शुद्ध होने की क्रिया; निरतिचारीकरण; शंकामुक्त
होना; व्रत-नियम का निर्विघ्न पालन ।

शैक्ष=वृद्ध; स्व + अर्थ तत्पर मुनि; श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और व्रत-भावना में
अनुक्षण निपुण साधु; लम्बे समय का दीक्षित साधु ।

शैयाधुर=वसतिका (दे. वसतिका) का निर्माता, उसकी देखभाल करने वाला अथवा
उसका व्यवस्थापक ।

शैयाधर-पिण्डत्याग = शैयाधर का भोजन/आहार न करना; दे. शैयाधर।
 शौच = ममत्व-त्याग; लाघव; लोभ तथा उसके समस्त प्रकारों का त्याग।
 श्रमण = जो तपस्या करता है (श्राम्यन्ति तपस्यन्ति इति); जो तपस्या द्वारा अपनी
 आत्मा को श्रान्त करता है; मुनि, साधु, संयत।
 संधनायक = आचार्य; दे. आचार्य।
 संधारा = सल्लेखना; दे. सल्लेखना।
 संयती = आर्यिका, साध्वी।
 संयत = साधु, श्रमण; जो पाँचों इन्द्रियों और कषायों को संयमित करता है।
 संयम् = सम्यक् रूप से इन्द्रियों का नियमन; विशुद्ध आत्मध्यान में प्रवर्तन।
 सत्य = जैसा हुआ हो वैसा कहना; हित-मित वचन; राग-द्वेष-मुक्त वाणी।
 समता = साम्य, समत्व, सामायिक, मोक्षमार्ग।
 समाधि = सल्लेखना; मन की एकाग्रता; मन को शुभ अथवा शुद्धोपयोग में जोतना;
 योग-निरोध; साम्य; स्वास्थ्य; ध्येय और ध्याता के एकीकरण की समरसी
 अनुभूति; दे. सल्लेखना।
 सल्लेखना = काय और कषाय का भलीभाँति लेखन (कृश करना); काय और कषाय
 को पुष्ट करने वाले कारणों को उत्तरोत्तर घटाते जाना।
 साधु = शैक्ष जो कर्मोन्मूलन में रत हैं और जो न तो शास्त्रों की व्याख्या करते हैं
 और न ही शिष्यों को दीक्षित करते हैं; सब जीवों में समभाव का अभ्यासी
 साधक; मुनि, संयत, श्रमण।
 साधु-भोजन = साधु का आहार जो ३२ ग्रास के बराबर होता है और जो उसके उद्देश्य
 से नहीं बनाया जाता; दे. आहार।
 साभाचार (समाचार) = समता; सम्यक् आचार; मूलगणों का निरतिचारपरक
 पालन; मानक आचारण; अतिचार-रहित आचरण।
 साभाचारी = साधु की आचार-संहिता।
 सामायिक = ज्ञाता-दृष्टा रह कर समता-स्वभावी आत्मा में स्थित रहना।
 साहू = साधु; दे. साधु।
 सिद्धि = आत्मा में रत्नक्रय की परिपूर्ण स्फीति।
 सुखकारी = आचार्य-गुण; भूख-प्यास आदि खिन्नताओं को शान्त करने वाला।
 सूत्र = सूक्ष्म अर्थ-सूचक वाक्य; प्रा. सुत्त।
 सूरि = आचार्य; संयतों को दीक्षा देने वाला; विद्वान्; पण्डित; जानकार; विशेषज्ञ।
 स्तुति = १, २ या ३ श्लोकों अथवा छन्दों का स्तवन; छोटा स्तवन; संक्षिप्त
 गुणानुवाद; प्रा. थुति।

(शेष पृष्ठ ८८ पर)

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/५१

‘तीर्थंकर’

साधुमार्ग विशेषांक

सितम्बर १९८७

जिसमें आप पढ़ेंगे

- एक पूर्वग्रह-मुक्त जैन आम्नाय की ऐतिहासिक उपलब्धियों का जीवन्त अहवाल
- साधु भी कर सकते हैं राष्ट्र-का-मंगल
- शिथिलताएँ होती हैं अन्तहीन मृग-मरीचिका
- क्या कोई साधु अपने आचार में अविचल रह कर लोक-कल्याण कर सकता है ?
- क्या व्यसन-मुक्त समाज-रचना सिर्फ शब्दों तक ही सीमित हो ?
- क्या भगवान् महावीर और उनके परवर्ती महान् आचार्यों ने जो बहुमूल्य विरासत हमें दी है उसे हम खोखला और बे-ज्ञान हो जाने दें ?
- निभा रहा है आज भी एक वर्ग उन निर्मलताओं को जिनकी निरन्तरता में मानव-मात्र के कल्याण की मंगल कामना सन्निहित है।

ऐसे बहुत सारे प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर आप पायेंगे ‘तीर्थंकर’ के ‘साधुमार्ग विशेषांक’ में - अपनी प्रति आज ही सुरक्षित कीजिये - मूल्य १५ रुपये - डाकव्यय पृथक् - संपर्क : प्रबन्ध संपादक ‘तीर्थंकर’, ६५ पत्रकार कालोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर- ४५२ ००१ मध्यप्रदेश - फोन ५८०४

भगवान् महावीर और महात्मा गाँधी

महत्त्व भिक्षु-वेष का नहीं, निष्काम सेवा का है। काषाय वस्त्र तो प्रतीक है कि हम अपने अन्तर की कषायों से छुट्टी पा लें; अतः भिक्षु और साधवी की सार्थकता समाज-सेवा में है और समाज-सेवा का सौष्ठव निष्काम एवं निःस्पृह भावना में है। सेवा करने का अहंकार तो बुरा है ही, भिक्षु बन कर उसका अभिमान तो और भी बुरा है।

—डॉ. रामजी सिंह

महावीर और गाँधी भले ही दो शरीर थे, लेकिन एक मन और एक आत्मा थे। वे दोनों ही एक धातु के दो खण्ड थे। मेरे विचार में तो महावीर पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के 'गाँधी' और गाँधी बीसवीं शताब्दी के 'महावीर' थे। यदि हम अवतारवाद को मानें तो महावीर इस युग में गाँधी के रूप में अवतरित हुए।

न महावीर जैन, न गाँधी हिन्दू

महावीर और गाँधी इतिहास-पुरुष ही नहीं, काल-पुरुष थे। न महावीर क्षत्रिय थे, न बापू वैश्य; न महावीर वैशाली के थे, न गाँधी गुजरात के; इसलिए महावीर को जैन और गाँधी को हिन्दू (वैष्णव) मानना निरर्थक है। महावीर और गाँधी केवल व्यक्ति ही नहीं, अपितु विचार भी थे। विचार जब किसी व्यक्ति की मर्यादा में बँध जाता है, तब वह 'वाद' बन जाता है, विचार जब किसी धार्मिक आग्रह पर सवार होता है, तब 'सम्प्रदाय' हो जाता है; महावीर और गाँधी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनके विचारों में जकड़न नहीं थी, वचन में आग्रह नहीं था, व्यवहार में आसक्ति नहीं थी।

असल में दोनों ने धर्म के बाह्य कलेवर को गौण; किन्तु धर्म-चेतना पर ज्यादा जोर दिया। जैनधर्म, इसी कारण बौद्ध, इस्लाम और ईसाइयत की तरह धर्म-विस्तार में नहीं गया। गाँधी ने भी किसी को हिन्दू-धर्म में दाखिल करने का सोच नहीं रखा। दोनों ने धर्म के विस्तार में नहीं, अपितु इसकी गहराई में दिल-चस्पी दिखायी एवं धर्म-चेतना को परिपुष्ट किया। धर्म-चेतना के दो ही लक्षण हैं। इन्हें व्यास मुनि (वेदव्यास) ने अठारहों पुराण का सार रखते हुए इस तरह निरूपित किया था—'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्'। जैन परम्परा की ऐतिहासिक भूमिका एवं महावीर के समस्त सिद्धान्तों का सार-सर्वस्व इन्हीं दो सिद्धान्तों पर आधारित है; लेकिन धर्म-चेतना के ये दो भाव तत्त्व—'परोपकार को पुण्य मानना और पर-अपकार को पाप समझना' शून्य में अवस्थित नहीं रहते। देश-काल

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/५३

की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त धर्म-चेतना के दोनों तत्त्व व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में मूर्तिमान होने चाहिये।

सिद्धान्त और व्यवहार अलग-अलग नहीं

महावीर के समय भी समाज में ऊँच-नीच के जातिभेद, अस्पृश्यता, नारी-उपेक्षा, कर्मकाण्ड और यज्ञीय हिंसा आदि धर्म के ऊपरी कलेवरों ने महावीर की धार्मिक चेतना को चुनौती दी थी और उन्होंने उसे स्वीकार करते हुए उन दुर्गुणों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ कर धार्मिक चेतना को परिपुष्ट किया।

ठीक इसी तरह गाँधी ने भी अपने समय में उसी सूत्र को पकड़ कर जनान्दोलन किया। धार्मिक चेतना मन्द पड़ते ही लोग महावीर की प्रवृत्ति के योग्य न रह सके। लोग सिद्धान्त में नारी उद्धार की बात करते रहे; किन्तु व्यवहार में अबलापन के पोषक रहे। ऊँच-नीच और छुआछूत दूर करने की घोषणा भी होती रही, दूसरी तरफ जातिवाद की परम्परा के प्रभाव से नहीं बचा जा सका। यज्ञ की हिंसा जरूर कम हुई; लेकिन परिग्रह के कारण शोषण-की-हिंसा भभकती रही। अपरिग्रह के नाम पर अपरिग्रह का कर्मकाण्ड आया, लोग नंगे पैर घूमे—मुंह पर कपड़े ढँके; लेकिन संपत्ति का संग्रह और परिग्रह उद्दाम रीति से चलता रहा। दीर्घ परतन्त्रता के कारण भी धर्म-चेतना अशक्त होती गयी और धर्म-सम्प्रदाय के छोटे-छोटे घरौंदे बनने लगे। धर्म के निमित्त अधर्म का पोषण, निवृत्ति के नाम पर निष्क्रियता; सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि उदात्त जीवन-मूल्यों के ऊपर अश्रद्धा होने लगी। लोगों ने सोच लिया कि सिद्धान्त और व्यवहार जगत् अलग-अलग हैं।

दारुण परिस्थितियाँ और गाँधी

ऐसी ही दारुण परिस्थितियों में महात्मा गाँधी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने साहसपूर्वक राजनीति के साथ अध्यात्म को, संघर्ष के साथ अहिंसा को और जीवन-व्यवहार के साथ अपरिग्रह को जोड़ने की बात निर्भीकतापूर्वक रखी। पहले तो उन्हें स्वप्नदर्शी और अव्यावहारिक बनाया गया; लेकिन जैसे-जैसे कर्मवीर गाँधी एक-से-एक सामाजिक-राजनीतिक अभियान छेड़ कर सफल होते गये, सारी दिशाएँ उनके श्री-चरणों में झुकती गयीं। उनका व्यक्तिगत जीवन यदि 'सत्य के साथ प्रयोग' रहा तो उनका सम्पूर्ण असहयोग एवं सत्याग्रह आन्दोलन महावीर की धर्म-चेतना का 'अहिंसा के साथ प्रयोग' मानना चाहिये। सत्य अहिंसा की सार्वत्रिक और सामाजिक कार्य-क्षमता पर से लोगों का अविश्वास उठने लगा।

जैन समाज में सत्य और अहिंसा के प्रति जन्मसिद्ध आदर था ही; लेकिन वह मूर्च्छित था; फिर जैन समाज गर्व से उद्घोष करने लगा 'अहिंसा परमोधर्मः'।

अभी तक अहिंसा दुर्बलता की प्रतीक थी, गाँधी ने विराट रूप दे कर उसे शक्तिमान बना दिया।

जैन समाज ने नर-नारी की समानता की बातें ज़रूर रखीं, हिन्दुओं ने बढ़ कर नारी को देवी कह दिया — 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः', लेकिन व्यवहार में परित्यक्ता, लाचार कुमारी, साध्वी बनती थीं। गाँधी ने बताया कि सच्चा बल तो शरीर-बल नहीं, आत्म-बल है। इस दृष्टि से यदि नारी अबला है तो पुरुष भी निर्बल है। जहाँ तक दया, सहानुभूति, त्याग आदि का प्रश्न है, उस दिशा में तो नारी पुरुषों से आगे है; इसलिए गाँधी ने नारी को सामाजिक प्रतिष्ठा दे कर उसे सचमुच देवी बनाया। जैन समाज को भी इससे नवजीवन मिला और साध्वी को लगा कि उसका जीवन श्रेष्ठ है।

विवाहित ब्रह्मचर्य का प्रयोग

बापू ने विवाहित ब्रह्मचर्य के आदर्श को व्यवहार में ला कर जैन समाज के आदर्शों को सार्थकता प्रदान की। प्राचीन काल में, महावीर के समय में, इस प्रकार की दम्पति के ब्रह्मचर्य की कथा सुनते हैं; लेकिन गाँधी ने अपने जीवन में इसका प्रयोग कर धार्मिक चेतना को परिपुष्ट किया। गाँधी के लिए, ब्रह्मचर्य केवल आदर्श नहीं, विशुद्ध व्यवहार था। जीवन के अन्तिम समय में भी उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ब्रह्मचर्य के प्रयोग किये और यह सिद्ध किया कि व्यक्ति कितनी ऊँचाई तक जा सकता है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मेल

सबसे सुन्दर बात तो यह है कि जिस प्रकार महावीर ने भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए जैनधर्म में प्रतिष्ठापूर्वक रहने का अवसर प्रदान किया था, उसी प्रकार गाँधी ने निवृत्ति और प्रवृत्ति का सुमेल साधा। उसी प्रकार गृहस्थ भी सुन्दर सेवक हो सकता है, वह भी आदर्श जैन हो सकता है और भिक्षु का जीवन भी समाज-सेवा के बिना अपूर्ण रहेगा। महत्त्व भिक्षु-वेष का नहीं, निष्काम सेवा का है। काषाय वस्त्र तो प्रतीक है कि हम अपने अन्तर की कषायों से छुट्टी पा लें; अतः भिक्षु एवं साध्वी की सार्थकता समाज-सेवा में है और समाज-सेवा का सौष्ठव निष्काम एवं निःस्पृह भावना में है। सेवा करने का अहंकार तो बुरा है ही, भिक्षु बन कर उसका अभिमान तो और भी बुरा है।

जैन परम्परा में अनेकान्त-तत्त्वज्ञान और उसके वाचनिक संयन्त्र स्याद्वाद पर गौरव होना ही चाहिये। वस्तुतः अहिंसा की साधना के लिए इससे बेहतर किसी यन्त्र का आज तक कहीं आविष्कार नहीं हुआ। भावनात्मक अहिंसा का पाठ तो ईसा, बुद्ध आदि सभी धर्म-प्रवर्तकों एवं महापुरुषों ने दिया; लेकिन मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का व्यावहारिक विज्ञान अनेकान्त-स्याद्वाद में ही पाया गया है।

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/५५

अनेकान्त भावना

अनेकान्त भावना वस्तुतः विचार-के-क्षेत्र में अहिंसा का अनुप्रवेश है। स्याद्-वाद तो अहिंसा की निर्दोष वाचनिक शैली है। जब वस्तु के अनन्त धर्म हैं और मनुष्य का ज्ञान सीमित है, तब मानव यह कैसे कह सकता है कि वह जो जानता है, वही सही है? यही कारण था कि महावीर अपने प्रवचन में स्याद्वाद का सहारा ले कर हर प्रवचन के पूर्व 'स्यात्' का प्रयोग करते थे; किन्तु महावीर ने अनेकान्त-स्याद्वाद को जिस प्रकार लोक-व्यवहार में प्रयोग कर उसे सर्वलोक-हितकारक बनाया, उसे धर्म-चेतना का प्रकाश मन्द होते ही जैन समाज ने झुका दिया। इसके विपरीत 'अनेकान्त' के नाम पर वह भ्रम-जाल और ऐकान्तिक कदाग्रह के झगड़े में फँसा रहा।

जैन समाज को पता नहीं रहा कि अनेकान्त केवल शास्त्रीय सिद्धान्त, या तर्क-जाल नहीं बल्कि दैनंदिन जीवन और समाज की बेमेल प्रवृत्तियों के संघर्ष के समाधान का एक अनोखा यन्त्र है। भंग-जाल और वाद-विजय तो अनेकान्त का बाहरी कलेवर है, उसकी आत्मा नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में विरोधी का समन्वय और कटुता तथा संघर्ष का परिहार ही असली अनेकान्त है।

समन्वय की विराट चेष्टा

गाँधी ने अनेकान्त की आत्मा को पहचाना और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय की विराट चेष्टा की। पूँजीवाद और समाजवाद, या यों कहें परिग्रह और अपरिग्रहवाद का समन्वय उन्होंने अपने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में जिस कौशल से किया, वह अपूर्व है। झगड़ा अमीर से नहीं, उसकी अमीरी से है। यदि वह भामाशाह एवं सेठ जमनालाल बजाज की तरह उसे जनता की धरोहर मानता है तो अपनी अपूर्व बुद्धि का समाज को लाभ देता है। इसमें क्या हर्ज है? सार्वजनिक क्षेत्रों में जो उद्योग आज हैं, वे अनाथ बच्चे की तरह उपेक्षित और अनादृत हैं, क्योंकि उन्हें कोई अपना नहीं समझता। राजनीति में भी गाँधी ने राज्य-शक्ति के साथ जन-शक्ति को जोड़ने का सन्देश दिया। धर्म-के-क्षेत्रों में सर्व-धर्म-समभाव तो अनेकान्त का व्यावहारिक पाठ है। भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने मिली-जुली हिन्दुस्तानी की जो वकालत की, आज वह मान ली जाती तो संस्कृत-निष्ठ हिन्दी के बोझिल स्वरूप से न दक्षिण वाले कतराते, न उर्दू वाले द्वितीय राजभाषा की माँग करते।

संक्षेप में, गाँधी ने अपने जीवन में अनेकान्त को उतारा। हाँ, उन्होंने विनम्रता-वश बराबर कहा कि उनका अनेकान्त-स्याद्वाद विद्वानों का नहीं, एक सामान्य जनता का है। उनकी इस युक्ति में एक ओर उनकी विनम्रता की पराकाष्ठा है, तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक वृत्ति से वाद-विजय और भंग-जाल को ही अनेकान्त मानने पर छिपा हुआ व्यंग्य।

(शेष पृष्ठ ८८ पर)

आलू छोड़ो, मूली छोड़ो/कषाय छोड़ो, क्रोध छोड़ो

यदि कुछ छोड़ाना ही है तो आलू-मूली छोड़ा कर क्या होगा ? कषायों को छोड़ाओ, क्रोध छोड़ाओ, आलस्य छोड़ाओ, मोह छोड़ाओ; पर यह सब वे किस मुँह से कहें ? क्या वे खुद ही इन्हें छोड़ पाये हैं ? इसीलिए तो उनकी नज़र आलू-मूली पर रहती है ।

सम्पादकजी,

कुछ दिनों पूर्व मुझे एक धार्मिक शिक्षण-शिविर में जाने का अवसर मिला था । वहाँ जो साध्वियाँ पढ़ा रही थीं वे सभी शिक्षार्थियों को आलू छोड़ने पर विवश कर रही थीं । कह रही थीं जो ज़मीकन्द छोड़ेगा उसे नम्बर दिये जाएँगे ।

मुझे बहुत दिन पहले की एक बात स्मरण हो आयी — मास-क्षमण के उपलक्ष्य में आयोजित एक स्वधर्मी वात्सल्य में मैं उपस्थित था । वहाँ यही आग्रह था कि जो यहाँ आये हैं, उन सभी को प्रतिदिन मन्दिर-दर्शन का नियम लेना होगा । मैं सहमत नहीं हुआ ।

मन्दिर जाएँ या न जाएँ यह मेरी अपनी अभिरुचि है । यह कोई थोपने की वस्तु नहीं है; वह भी ज़बर्दस्ती ।

साध्वियों की भी यह ज़बर्दस्ती ही तो थी । फिर एक रास्ता निकाला गया । जिसे छोड़ना हो, वह साध्वीजी के पास जा कर सौगन्ध ले । ज़बर्दस्ती नहीं की जाएगी और न ही नम्बर दिये जाएँगे ।

सच तो यह है सम्पादकजी, साधु-साध्वी, चाहे वे जिस फिरके के हों सभी में एक ही धुन देखता हूँ, 'आलू छोड़ो, मूली छोड़ो' । मुझे तो अवसर ऐसा लगता है कि यह भी एक प्रकार की व्याधि है, जिससे ये लोग त्रस्त हैं — दैहिक रूप से हों, या न हों; मानसिक रूप से अवश्य हैं । मनोवैज्ञानिक इस विषय में क्या कहेंगे मैं नहीं जानता फिर भी शायद यही कहेंगे — 'जब मैं उसका आस्वादन नहीं कर रहा हूँ तो दूसरा क्यों करे ?'

यदि कुछ छोड़ाना ही है तो आलू-मूली छोड़ा कर क्या होगा — कषायों को छोड़ाओ, क्रोध छोड़ाओ, आलस्य छोड़ाओ, मोह छोड़ाओ । पर यह सब वे किस मुँह से कहें ? क्या वे खुद ही इन्हें छोड़ पाये हैं ? इसीलिए तो उनकी नज़र आलू-मूली पर रहती है ।

मेरे उन बहसी मित्र की बात मुझे याद हो आयी — जिन्हें साधु बार-बार कहने लगे — तुम्हें कुछ-न-कुछ तो छोड़ना ही होगा । उसने कहा — 'महाराज आप जो

कहेंगे वह मैं छोड़ दूंगा; किन्तु इस शर्त पर कि जो मैं कहूँ वह आपको भी छोड़ना है। ऐसा भी कोई मुंहफट उन्हें मिल सकता है इसकी तो शायद कल्पना भी नहीं की थी उन्होंने, अतः चौंक उठे। वह क्या? मेरे मित्र ने कहा—जो भी आपके पास आये उससे कुछ छोड़ाने का यह कदाग्रह। अब क्या जवाब देते वे। बस, निरुत्तर हो गये।

सम्पादकजी, इस छोड़ने-छोड़ाने की बात में पहला टारगेट है आलू। मानो आलू खाने से जैनधर्म का किला ही ढह जाएगा; और न खाने से अटूट रहेगा। मेरे एक मित्र अक्सर कहा करते हैं—मेरे घर में तो आलू का प्रवेश ही नहीं होता मानो आलू कोई मांस-मछली जैसा खाद्य है। बड़ी अजीब-सी लगती है बात। आखिर आलू वनस्पति ही तो है। मैं अपने उन मित्र को चेतावनी देना चाहता हूँ कि आपके घर में अवश्य ही आलू का प्रवेश नहीं होता होगा पर आपकी गली में तो हो चुका है।

आखिर आलू के प्रति इस रुख का कारण क्या है? प्रत्युत्तर मिलता है—इसमें अनन्तकायिक जीव हैं।

प्रश्न : यह किसने कहा ?

उत्तर : शास्त्रों में आता है।

प्रश्न : किस शास्त्र में ?

उत्तर : हमारे पुराने शास्त्रों में।

किन्तु हमारे पुराने शास्त्रों में आलू का नाम आ ही नहीं सकता। कारण, आलू भारत की उपज नहीं है, यद्यपि आज आलू की उपज सारी दुनिया में चावल से दूनी, गेहूँ से तिगुनी है। सर वाल्टर रयाले इसे ईस्वी सन् १५८६ में दक्षिण अमेरिका से विलायत लाये थे। भारत में यह आया है १६१५ ई. के आस-पास; अतः पुराने शास्त्रों में इसका जिक्र आना असंभव है। स्पष्ट है आलू में अनन्तकायिक जीव हैं, यह किसी केवली या सर्वज्ञ का कथन नहीं है यह तो किसी छद्मस्थ का फ्रतवा है; एतदर्थ गलत भी हो सकता है।

इस फ्रतवे का कारण मेरे ख्याल से यही रहा है अनजाने फल का जो विरोध होता है यह वही विरोध है और इस विरोध को चलाया गया है धर्म के नाम पर। इस पर छान-बीन होनी चाहिये कि क्या आलू में अनन्तकायिक जीव रहते हैं ?

मेरे एक अन्य मित्र ने कहा कि आलू में शर्करा अधिक होती है, जिससे डायबिटीज (मधुमेह) आदि व्याधियाँ हो सकती हैं।

प्रत्युत्तर यह है कि डायबिटीज होने पर जो खाना निषिद्ध होता है—जैसे चावल, गेहूँ आदि वे क्या अभक्ष्य हो जाएँगे ?

(शेष पृष्ठ ६२ पर)

क्रफ़न के नीचे ढँके लोग

जो 'श्रावक-धर्म' भी पूरा-पूरा नहीं जानता वह श्रावक आचार्य-पद पर आरूढ़ होने वाले साधु-वर्ग पर कुछ लिखे; यह शोभा नहीं देता, पर मैं एक सचाई कह देना चाहता हूँ, जिस तरह अनेक श्रावक अपना धर्माधिक जीवन व्यतीत कर लेने के बाद भी श्रावक की आचार-संहिता नहीं समझ पाते, उसी तरह कुछ साधु भी हैं जो साधु-मार्ग पर चलते हुए भी साधु-आचार-संहिता नहीं जान पाते; श्रावक एक निपट औसत साधु पर दूसरों की तुलना में अधिक ठीक लिख सकता है।

'आचार्य' की परिभाषा इसलिए नहीं बतलाऊँगा; क्योंकि वह गत दो हजार सालों से बार-बार लिखी जाती रही है। आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आचार्य शान्तिसागर तक वह हर शताब्दी में दोहरायी जाती रही है, अनेकों द्वारा, अनेकों बार दोहराई गयी है; सो आचार्यों का शास्त्रोक्त स्वरूप नहीं कहूँगा, उसे तो आप रोज़ ही पढ़ते हैं। मैं तो आचार्यों की उस 'अस्मिता' की बात कह देना चाह रहा हूँ— जो रोज़-ब-रोज़ खतरे में पड़ती जा रही है; उन्हीं के मनसूबों से, उन्हीं की योजनाओं से, एक मायने में उन्हीं के कर-कमलों से।

एक साधु जो कल अमुक नगर में मुनि था, वह चौबीस घण्टों बाद दूसरे नगर पहुँचते ही आचार्य कैसे बन जाता है? ऐसा कौन-सा 'कम्प्यूटर' आ गया है साधु-समाज के पास जो एक मुनि को रातों-रात आचार्य बना देता है? वे कौन हैं जो ऐसे तथाकथित कम्प्यूटराइज्ड मुनि को आचार्य मान कर पूजने लगते हैं? संसार में मूर्खों की संख्या अधिक है, सो अब साधुओं के समक्ष ऐसे अनन्त प्रश्नों की बाढ़ आ गयी है, वे समय-रहते हर प्रश्न का समाधान देते चलें यही उचित होगा, अन्यथा प्रश्नों की बाढ़ उन्हें अ-दिशा में बहा कर ले जाएगी। मूर्खों के प्रश्नों की बाढ़।

विद्वान् बुद्धिमान जन तो प्रश्न करते ही नहीं। जो विद्वान् हैं, भला वे प्रश्न क्यों करेंगे? वे तो प्रश्नों का घुमावदार जवाब-भर देते हैं। अगर प्रश्न करने लगे, तो उनकी विद्वत्ता खतरे में पड़ जाएगी या विद्वान् स्वयं। विद्वत्ता संकट-ग्रस्त हो जाए— इसकी चिन्ता तब भी अधिक नहीं है हमारे आधुनिक-विद्वानों को, हाँ, चिन्ता है तो एक— 'विद्वान् खतरे में न पड़ जाए'।

प्रश्न करने से बड़े-बड़े खतरे संभव हैं। विद्वान् को उपलब्ध सुख-साखें, सुविधाएँ, लाभ समाप्त कर दिये जाएँ। विद्वान् को ब्लेकलिस्टेड करार करा दिया

जाए। विद्वान् के लेखों को मिथ्या-प्रलाप बतला दिया जाए। विद्वान् की पत्रिका धर्म-विरुद्ध सिद्ध कर दी जाए; या विद्वान् को कु-पन्थी घोषित कर दिया जाए। सो, जो विद्वान् कम-से-कम उक्त पाँच आसन्न संकटों को झेलने के लिए कमर कस ले, प्रश्न कर सकता है। शेष द्वन्द्व में, विवाद में न पड़ने की कसम खा कर शुभ्र तकियों से टिके हैं। काश, ऐसी शुभ्रता निष्कलंक मानी जाती होती ! सुनो, यह रजत-शुभ्रता विद्वानों को, साधु-संघ को, और समाज को एक गुमनाम चादर में चुपचाप लपेटती चली जा रही है, जिसके नीचे सब शान्त, चुप, मौन और निर्प्रश्न रहने को बाध्य हैं। तब वह सफेद, चादर तो हो गयी कफ़न और उसके नीचे ढँके लोग निस्तेज व्यक्ति, हाँ, चेतनाहीन व्यक्ति । मुर्दा ।

मैं आजकल मूर्खों को मुर्दों से बेहतर मानता हूँ, जो अपनी-पराई 'अस्मिता' पर प्रश्न तो कर लेते हैं। यों उन विद्वानों को भी पूजता हूँ, जो समय के चेहरे पर प्रश्न चिपका देने का साहस रखते हैं अपनी जीर्ण-शीर्ण काया में।

आचार्य-पद जिन्होंने धारण कर ही लिया है रातोंरात, उन्हें और जो ऐसे समाचार पढ़ कर, सुन कर आचार्य-पद प्राप्त करने की लालसा संजो बैठे हैं हृदय-मानस में, उन्हें यह लेख समर्पित करना चाहता हूँ। साधु जो कमण्डलु और पिच्छिका की तरह आचार्य-पद को भी हाथ में लिये हुए विचरना चाहते हैं, वे तमाम श्रावकों के साथ धोखा कर रहे हैं। रोटी और कपड़े के चक्कर में पड़ा हमारा वणिक्-समाज धर्म करता तो है; पर धर्म के विषय में कुछ साफ-साफ सोचने-विचारने का समय नहीं निकाल पाता। जो इने-गिने रईस धर्म और समाज की सेवा के नाम पर मैदान में उतरे हैं; वे सेवा के लिए कम, निजी प्रतिष्ठा के लिए अधिक जलते-खीलते पाये गये हैं; अतः ऐसे समाज के कुछ साधुगण भी जब-तब पद, प्रतिष्ठा, यश के लिए झगड़ने लगें, या लोलुप दीखने लगें तो चिन्ता किसे ? सभी तो अपने-अपने धन्धों-झगड़ों में व्यस्त हैं; इसीलिए प्रकृति ने हर समाज को कुछ मनीषी देते रहने का चलन पाल रखा है। मनीषी समय-समय पर साधु-वर्ग को, विद्वद्गर्ग को और जनसामान्य को जगाता चलता है; यह पृथक् बात है कि कोई जाग जाए या हाँ-हूँ कह कर पुनः सो जाए। मुझे उनकी जरूरत है जो जगाने पर जाग जाते हैं। हाँ वे फिर चाहे श्रावक, चाहे विद्वान्, चाहे साधु।

अनुरोध / प्रार्थना / अर्ज यह कि आचार्य वे ही बनें जिन्होंने योग्यताएँ अर्जित कर ली हैं। वे ही बनाये जाएँ जिनकी योग्यताएँ परख ली गयीं हैं। हर साधु आचार्य क्यों बने ? जिस साधु के तीन-तीन दीक्षा-गुरु विद्यमान हों, उसे आचार्य क्यों बनाया जाए ? क्या उसे अपने ही आचार्यों पर शक हो गया है, या उनमें वह आचार्यत्व नहीं रह गया जो नया साधु देना चाहता है ? जो तनिक लज्जावान हैं, वे प्रकारान्तर से आचार्य-पद पर आरूढ़ होते हैं। पहले कहते हैं — नहीं,

नहीं, दीक्षा-गुरु के जीवन्त रहते साधु को आचार्य-पद नहीं लेना चाहिये फिर सेठ, सेठियों, और आज्ञाकारी-विद्वानों से हल्ला करवाते हैं कि महाराज, न लीजिये आचार्य-पद अन्य ही धारण कर लीजिये । बालाचार्य, युवाचार्य आदि पद आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तब तक कोई पण्डित चील की तरह उतरता है मंच पर और जनमेदिनी को संदेश सुनाता है—हमारे महाराज के दीक्षा-गुरु ने मुझसे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वे उक्त चार में-से कोई एक पद ले कर जिन-शासन की रक्षा करें ।

बस हो गयी इच्छा पूरी । उनके शब्द देव-वाणी की नाई महाराजजी स्वीकार कर एक पद तशमे की तरह धारण कर लेते हैं दिगम्बरत्व पर ।

ऐसे महाराज चारों पद एक साथ धारण कर साधु-समाज के मध्य चौकड़ी भरने लगे तो मुझे क्या आपत्ति होगी ? जिसे चार पद थोक में मिल जाएँ उसे शायद 'महापद' भी पलक-झपकते प्राप्त हो जाए । तब लगा—युवाचार्य, बालाचार्य, और अन्य आचार्य-पद जिनशासन के अंतर्गत तरक्की के रास्तों की तरह खुल पड़े हैं, प्रमोशन लीजिये, प्रतिष्ठा और अधिकार पाइये; और जैनधर्म की जय बोलिये ।

सरकारी मुलाजिम डी. लिट् और डॉक्टरेट पा कर प्रोफेसर, इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक-पदों की चमक में निखार ले आते हैं; तो भला साधु बेचारा क्यों पीछे रहे, उसे तो चमक और निखार के अतिरिक्त अन्य कार्य है ही नहीं । आत्मा की चमक में निखार । नाम की चमक में निखार । पद की चमक में निखार ।

साधुओं का प्रमोशन न हो तो शायद संसार के सारे कार्य रुक जाएँगे । संघ कुम्हलाने लगेंगे । अतः वह तो हो ! पर समय आने पर ही हो बस इतना संशोधन चाहते हैं । रातों-रात नहीं, पूर्ण विधि-विधान के साथ ।

सुनें; एक आचार्य स्वतः ही अपने योग्य शिष्य को, समय, स्थान, कारण (अपनी वृद्ध वय और जर्जर काया का) बोधादि करावा कर आचार्य, युवाचार्य बालाचार्य-पद ग्रहण करने को कहे और शिष्य तभी उस आज्ञा का पालन करे—ऐसे उदाहरण तो मुनिसंघों में बहुत कम देखने को मिले हैं; जो/जितने मिले हैं, उतनों ने मर्यादापूर्ण / सतजुगी—वातावरणकी सुरभि भी बिखेरी है और वे शिष्य जगत् के समक्ष गौरव से मस्तक ऊँचा कर अपने गुरु का नित्यप्रति जयघोष कर सके हैं । हमें ऐसे ही आचार्य चाहिये; थोपे हुए या रंगे हुए नहीं ।

किसी संघ में आचार्य अचानक देह-त्याग दें और अपने किसी शिष्य को समय-रहते आचार्य-पद के योग्य न बतला पायें, तब क्या किया जाए ? क्या उस संघ के हर मुनि को आचार्यपद दे कर विभिन्न दिशाओं में विदा कर दिया जाए ? क्या हर मुनि की परीक्षा ली जाए और जिसे अधिक अंक मिलें उसे……? मत-गणना

करायी जाए, जिसे ज्यादा मत मिलें उसे.....? समय-रहते समाज और संवों ने विचार न किया तो वह दिन दूर नहीं, जब आचार्य-पद के लिए उक्त प्रकार के हलके-फूलके मार्ग / साधन अपनाये जाएँगे और सारा समाज धार्मिक अशान्ति से उत्पन्न धूम्र से आँखें मल-मल कर परेशान रहेगा। अन्य समाज हँसेंगे। तब प्रकरण को ले कर साधु न्यायालय तक के द्वार खटखटायेंगे।

साधु निर्ग्रन्थ, निःस्पृह और निकष-सिद्ध होते हैं, वे आचार्य-पद को परिग्रह मान कर उससे बचना कब प्रारंभ करेंगे? प्रवचनों में तो मुनि-पद के गुण ही गाता है हर साधु, आचार्य-पद को तो मात्र गुरु-आज्ञा का कारण बतलाता है; फिर उस आचार्यपद के साथ यह अँधेरे-उजले की खिलवाड़ क्यों देखने में आने लगी है? ऐसे कच्चे आचार्य जिनमें आचार्य-पद की न तो सर्वांग योग्यता है, न गरिमा, साधु-परमेष्ठी के २८ मूल गुणों का पालन करते हुए आचार्य-परमेष्ठी के ३६ विशेष गुणों का पालन कैसे करेंगे? शास्त्रोक्त ये ६४ गुण तो उनके सिर पर होते ही हैं, कुछ अन्य गुणों की अपेक्षा भी उनसे जुड़ जाती है, जिनमें कभी-कभी उपाध्याय-परमेष्ठी के ग्यारह अंग और चौदह पूर्व ज्ञान-स्वरूप (कुल २५) गुण भी जुड़े रहते हैं, अतः यह क्षमता साधु कहाँ से लायेगा? ले आये तो अच्छा है; न ला पाये तो पद में जल्दबाजी न करे; कुछ वर्ष और रुक ले; तप-गुण-ज्ञान-चिन्तन से अपना मनोकोष भर ले फिर आचार्यत्व की ओर देखे। हम श्रावक, उनका आचार्यत्व देख कर ही तो अपना श्रावकत्व चमका सकेंगे; उसमें निखार ला सकेंगे। □□

(पृष्ठ ५६ का शेष)

वास्तव में हमारा भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार अधिकांशतः भ्रमित है। हम जमीकंद नहीं खा सकते हैं तो सौंठ-हल्दी कैसे खा सकते हैं? भले ही सुखा कर क्यों न खायें? जबकि आलू तो जमीकंद है ही नहीं। यह तो एक पौध पर उत्पन्न होता है, जिसे मिट्टी से मात्र ढँका जाता है।

बहुबीज में आते हैं यदि बैंगन, अंजीर आदि तो तुरई, खीरा भी सहज ही बहुबीजी हैं।

भक्ष्य-अभक्ष्य का यह निरूपण हुआ है छत्रस्थ द्वारा। उन्होंने अपने विचार थोप दिये हैं हमारे ऊपर। अब तो इस वैज्ञानिक युग में भक्ष्याभक्ष्य का नये सिरे से, वैज्ञानिक ढंग से विचार होना चाहिये।

यदि आप समझते हैं कि जैनधर्म का किला इसी पर टिका है तो वह दिन दूर नहीं जब कि वह ढह जाएगा।

—गणेश ललवानी

समाधान : डॉ. अनिलकुमार के प्रश्नों का

आज के युग में विज्ञान मनुष्य-जीवन का आवश्यक अंग बन गया है; इसलिए हर मनुष्य किसी भी प्रश्न को वैज्ञानिक ढंग से ही देखता है और वैज्ञानिक पद्धति से ही उसका उत्तर पाने के प्रयत्न करता है। यद्यपि जैन शास्त्रों में बहुत कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त पाये जाते हैं, तथापि वर्तमान में बहुत से प्रश्न ऐसे हैं जिन पर आधुनिक विज्ञान और जैन शास्त्रों में स्पष्ट भिन्नता दिखायी पड़ती है।

‘तीर्थंकर’ के मई-१९८१ के अंक में ‘जैनधर्म : विज्ञान की कसौटी’ पर लेख में डॉ. अनिलकुमार जैन ने ऐसी ही कुछ भिन्नताएँ दिखलायी हैं और तत्संबन्धी प्रश्न प्रस्तुत किये हैं।

यहाँ हम ऐसे ही कुछ प्रश्नों की चर्चा करेंगे।

जैन पुराणों में, कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी (वि. सं. ११४५-१२२९) द्वारा विरचित ‘त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र’ का अनुठा स्थान है। इसके ‘परिशिष्ट पर्व’ में बहुत-से ऐतिहासिक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। इसी ग्रन्थ में उन्होंने ६३ महापुरुषों के जीवन का विस्तृत वर्णन किया है। इन सब के शरीर-की-ऊँचाई (अवगाहना) भी जैन शास्त्रों में उपलब्ध है।

इसी ग्रन्थ के अनुसार भगवान् श्री ऋषभदेव की अवगाहना ५०० धनुष्य थी। एक धनुष्य चार हाथ के बराबर होता है और एक हाथ को कम-से-कम ढढ़ फुट के बराबर मान लेने पर भगवान् आदिनाथ की अवगाहना ३००० फुट होती है। इसी प्रकार भगवान् शान्तिनाथ के शरीर-की-ऊँचाई ४० धनुष्य अर्थात् २४० फुट थी। भगवान् महावीर की अवगाहना ७ हाथ अर्थात् १०॥ फुट थी। हम इन सब बातों को आज सत्य नहीं मानते हैं; लेकिन हमें एक बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिये कि विज्ञान का कोई भी सिद्धान्त अपरिवर्तनीय नहीं है। आज जो सिद्धान्त सत्य साबित हुए हैं, वे कल असत्य सिद्ध हो सकते हैं।

हाल ही में अमरीकी वैज्ञानिक कार्ल सेगन ने एक कॉस्मिक कैलेण्डर विकसित किया है, उसमें और जैन काल-चक्र में बहुत कुछ साम्य है। वैज्ञानिकों की मान्यतानुसार पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से हुई, और यह घटना करीब साढ़े पाँच अरब वर्ष पहले घटी। उस घटना से ले कर पृथ्वी के प्रलय की घटना तक उन्होंने १२ मास अर्थात् ३६५ दिन की कल्पना की है और उस समय में कौन-कौन-सी घटनाएँ कैलेण्डर के किस दिन घटी, इसका निर्देश इसमें किया गया है। काल-चक्र के साथ इनका मेल कैसे बैठता है, उन सब का विश्लेषण मैंने ‘जैन काल-चक्र और कॉस्मिक

कैलेंडर' नामक लेख में किया है; जो सितम्बर-१९८४ के गुजराती सामयिक 'नवनीत समर्पण' में प्रकाशित हुआ है।

'डिस्कन्डर' नामक अमरीकी विज्ञान-मासिक में कुछ ही साल पहले ११.५ फुट की लम्बाई और २३ फुट के विस्तार के पंखों से युक्त पक्षी के अश्मीभूत अवशेष (फॉसिल) का फोटोग्राफ दिया गया था।

विज्ञान, प्राचीन काल की महाकाय जीव-सृष्टि का अन्वेषण कर रहा है और डाइनोसॉर जैसे महाकाय प्राणी के अश्मीभूत अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों के आधार पर वैज्ञानिक उसकी अवगाहना कम-से-कम १५० फुट मानते हैं और उसके अस्तित्व का काल ९ करोड़ वर्ष पूर्व माना जाता है।

यही डाइनोसॉर जैन जीव-विज्ञान के अनुसार भुजःपरिसर्प के विभाग में रखा जाता है। वर्तमान युग के नकुल आदि का समावेश इस विभाग में होता है। जीवाभ्रगम, पन्नवणा इत्यादि जैन ग्रन्थों के अनुसार इन्हीं जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना गाउ पृथक्त्व अर्थात् २ गाउ से ले कर ९ गाउ तक होती है। डाइनोसॉर की उत्कृष्ट अवगाहना को यदि २ गाउ मान लिया जाए तो उस वक्त मनुष्य की अवगाहना ३ गाउ होती है, इसी गणनानुसार मनुष्य की अवगाहना से ३ अवगाहन डाइनोसॉर की होती है। १ धनुष्य के बराबर ६ फुट लेने से डाइनोसॉर के अवशेषों से प्राप्त उसकी अवगाहना २५ धनुष्य होती है और उसके समकालीन मनुष्य की अवगाहना ३७.५ धनुष्य हो सकती है। इसी अवगाहना वाले मनुष्य सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के युग में थे तथा काल-चक्र की गणनानुसार, यही समय तीन सागरोपम पूर्व का अनुमानित है।

यद्यपि तीन सागरोपम वर्ष और ७ करोड़ वर्ष में काफी अन्तर होने पर भी, हम निःसन्देह कह सकते हैं कि ७ करोड़ वर्ष पूर्व का अनुभव गलत है, क्योंकि जिस पद्धति से प्राचीन अवशेषों की प्राचीनता का निश्चय किया जाता है, वह पद्धति ही गलत मालूम देती है। इस पद्धति में कार्बन-१४ (सी-१४) के समस्थानिकों (आइसोटॉप्स) का उपयोग किया जाता है। इसी पद्धति के बारे में 'द पिरामिड पावर' नामक पुस्तक के २० वें पृष्ठ पर लिखा गया है कि 'इस पद्धति के अनुसार प्राचीन पदार्थों का काल-निश्चय करने में सैकड़ों नहीं बल्कि हजारों और लाखों वर्षों की गलती होती है'। अतः हम इस पद्धति से जिस पदार्थ को ३-४ लाख वर्ष पुराना मानते हैं, वह पदार्थ कम-से-कम ३-४ अरब वर्ष पुराना हो सकता है; अतः डाइनोसॉर का अस्तित्व ७ करोड़ वर्ष पूर्व नहीं बल्कि तीन सागरोपम वर्ष पूर्व होने की संभावना को असत्य नहीं मानना चाहिये।

ठीक इसी तरह महापुरुषों की अवगाहना के बारे में कोई संशय करना उपयुक्त नहीं है; बल्कि उसे अच्छे वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करने की आवश्यकता है।

चलित रस

चलित रस के बारे में डॉ. जंन ने दही का प्रश्न उपस्थित किया है। आमतौर से यह मान्यता भी प्रचलित है कि दही बिना बैक्टीरिया के जमता नहीं है और बैक्टीरिया सजीव होने के कारण, दही नहीं खाना चाहिये; किन्तु बैक्टीरिया कई तरह के होते हैं। माइक्रोबॉयलॉजी के अध्ययन से हमें विदित होता है कि कुछ बैक्टीरिया जो कभी-कभी दूध आदि में पाये जाते हैं, वे किसी भी उपाय से मरते नहीं हैं, चाहे दूध आदि को आधे घंटे तक ही क्यों न उबाला जाए; क्योंकि इस प्रकार के बैक्टीरिया, अपने पर्यावरण का तापमान बढ़ते ही अपने चारों ओर एक सुरक्षा कवच बना लेते हैं, और जब तक तापमान अनुकूल नहीं हो जाता तब तक कवच में सुषुप्त बने रहते हैं।

दूध में-से दही बनाने वाले बैक्टीरिया भी विशिष्ट प्रकार के होते हैं। हमारे शरीर में भी बहुत से बैक्टीरिया और जीवाणु-कीटाणु हैं। दही के बजाय दूध लेने पर भी, वही दूध जब पेट में जाता है, तब वहाँ भी हाइड्रोक्लोरिक (एचसीएल) से युक्त होने से, दही में रूपान्तरित हो जाता है; अतः हमें मानना चाहिये कि दही में बैक्टीरिया होने पर भी, उसका भोजन में उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि उन्हें अपने जीवन के लिए अनुकूल पर्यावरण हमारे शरीर में भी प्राप्त है, अतः उनकी मृत्यु नहीं होती; इसलिए दही का निषेध जैन शास्त्रों में नहीं किया गया है; किन्तु वह दही दो रात बीत जाने पर अभक्ष्य हो जाता है; क्योंकि उसमें दही बनाने वाले बैक्टीरिया की वृद्धि अत्यधिक मात्रा में हो जाती है और अन्य प्रकार के जीवाणु-कीटाणुओं की उत्पत्ति की भी आशंका बन जाती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से सभी खाद्य पदार्थ अल्पाधिक प्रमाण में वायरस और बैक्टीरिया से युक्त होते हैं; अतः कोई भी पदार्थ हमारे लिए भक्ष्य नहीं बन पाता, किन्तु सिर्फ बैक्टीरिया होने से ही सभी पदार्थ अखाद्य नहीं हो जाते।

यह तो सिर्फ जीव-विज्ञान की दृष्टि से देखा; किन्तु आरोग्य-विज्ञान की दृष्टि से भी, दूध की तुलना में दही ज्यादा सुपाच्य है। यद्यपि जैन शास्त्रों में साधु-मुनियों को स्पष्टरूप से बिना कारण दूध, दही, घी आदि विगइ (विकृतियों) का उपयोग करने की छूट नहीं है। सिर्फ ग्लान-अशक्त और स्वाध्याय-ध्यान में अत्यधिक प्रवृत्तिशील मुनि ही आचार्यादि गीतार्थों की आज्ञानुसार इन विकृतियों का उपयोग कर सकते हैं। ये सब विकृतियाँ अपने नामानुसार मन और शरीर में विकार पैदा करने में समर्थ होने से इस तरह का निषेध किया गया है; अतः स्वस्थ मनुष्य के लिए घी, दूध, दही आदि अधिक मात्रा में लेना योग्य नहीं है।

दही और छाछ के साथ-साथ डॉ. जैन ने घी का भी प्रश्न उपस्थित किया है। वे कहते हैं कि छाछ में-से घी निकालने के लिए छाछ को बिलोना पड़ता है और इसी प्रक्रिया में बहुत से बैक्टीरिया मर जाते हैं, इसलिए दही-छाछ की तरह घी का भी त्याग करना होगा; लेकिन हमें ऐसा लगता है कि डॉ. जैन छाछ से घी बनाने की प्रक्रिया में क्या होता है, उसे अच्छी तरह समझ नहीं पाये हैं। छाछ में-से पहले मक्खन निकाला जाता है बाद में उसे ही गरम कर घी बनाया जाता है।

जैन शास्त्रों की मान्यता है कि छाछ से मक्खन को अलग करने के बाद ४८ मिनट तक उसमें जीवोत्पत्ति नहीं होती है, उसके बाद जीवोत्पत्ति होती है, तब वह अभक्ष्य हो जाता है; किन्तु उसमें-से घी निकालने के बाद पुनः जीवोत्पत्ति नहीं होती है अतः घी भक्ष्य है। यद्यपि दही में-से छाछ, और छाछ में-से मक्खन निकाल कर, घी बनाने में बैक्टीरिया आदि की जीवहिंसा तो होती ही है; फिर भी सिर्फ इसी कारण से घी अभक्ष्य नहीं बन जाता है। यदि हम ऐसी वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक मानेंगे तो पानी और अन्य धान्यादि भी रसोई आदि करने से पूर्व सजीव ही होने से, उनका भी त्याग करने की आपत्ति आती है; अतः पानी भी उबाल कर हम पी नहीं सकेंगे; क्योंकि पानी भी स्वयं सजीव है और साथ-साथ उसमें अन्य जीवाणु-कीटाणु भी विद्यमान होते हैं, और उसे उबालने से, उन सबकी हिंसा का पाप हमें लगता है।

जैन परम्परा में 'यतना' ही धर्म (जयणाए धम्मो) है। 'दसवैकालिक सूत्र' में जब शिष्य को बताया गया कि चलने से हिंसा होती है; खड़े रहने, बैठने, और सोने से भी हिंसा होती है बोलने और आहार करने से भी हिंसा होती है। तब शिष्य प्रश्न पूछता है कि यदि चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, बोलने और आहार करने से जीव-हिंसा होती है तो हमें जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिये ?

कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे? कहं सए?

कहं भुंजंतो? भासंतो? पावं कम्मं न बंधई?

—दशवैकालिक सूत्र; अध्ययन-४, गाथा-७

इसके उत्तर में कहा गया है कि—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई॥

—दशवैकालिक सूत्र; अध्ययन-४, गाथा-८

यतना से चलना, यतना से खड़े रहना, यतना से बैठना, यतना से सोना, यतना से बोलना और आहार करना, जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

इस तरह जैनधर्म में 'यतना' मुख्य है; अतः अल्प-से-अल्प सावद्य व्यापार द्वारा जीवन-निर्वाह करने की सूचना शास्त्रकारों ने दी है, जो यतना के अधिक-से-अधिक पालन द्वारा ही सफल हो सकती है।

जमीकन्द

डॉ. जैन ने जमीकन्द के बारे में भी बहुत से प्रश्न उठाये हैं। उनका कहना है कि जमीकन्द में जीव होते तो वे जीव सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से अवश्य दिखायी पड़ने चाहिये, जैसे दही में बैक्टीरिया; किन्तु उनकी यह मान्यता गलत है। बैक्टीरिया आदि द्वीन्द्रिय जीव होने से भिन्न रूप से दही में गतिमान अवस्था में दिखायी पड़ते हैं; जबकि वनस्पति स्वयं सजीव है, अतः उसमें सूक्ष्मदर्शी से जीव को देखने का प्रश्न ही अस्थानापन्न है। वनस्पति के मुख्यतया दो भेद हैं—एक है प्रत्येक वनस्पतिकाय और दूसरा है साधारण वनस्पतिकाय। प्रत्येक वनस्पतिकाय में हर आत्मा का अपने-अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का बोधक स्वतन्त्र शरीर होता है; और साधारण वनस्पतिकाय में अनन्त जीवों का शरीर एक ही होता है, अर्थात् एक ही शरीर में अनन्त जीव होते हैं। हम जो फल, फूल, पत्ते, मूल आदि देखते हैं, वह तो वनस्पति जीवों का शरीर है। क्या आत्मा, शरीर से भिन्न रूप से सूक्ष्मदर्शी से दिखायी पड़ती है? आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि प्रत्येक सजीव पदार्थ में उनके शरीर का मूलभूत इकाई कोष (सेल) है। अरबों की संख्या में ऐसे कोष इकट्ठा हो कर प्रत्येक प्राणी या सजीव पदार्थ का शरीर बनाते हैं। यह हरेक कोष भी सजीव होता है; अतः आलू आदि के सभी कोष, सजीव होने पर भी, प्रत्येक कोष में अनन्त जीव-राशि होती है, अतः जमीकन्द को अभक्ष्य माना गया है।

उनका दूसरा प्रश्न यह है कि जहाँ जीव-राशि है वहाँ यदि उसकी अनुकूल परिस्थिति समाप्त कर दें तो वह जीव-राशि मर जाएगी और जब जीव मरेंगे तब उनमें (जमीकन्दों में) सड़न-गलन भी होगी और वह सञ्जी अधिक समय तक टिक नहीं सकेगी; किन्तु जमीकन्द बहुत समय तक अच्छे बने रहते हैं। यदि उनमें जीव हों तो ज़मीन के अन्दर ही वे सुरक्षित रह सकते हैं, उन्हें मिट्टी से बाहर निकालने पर जीव समाप्त हो जाएँगे, और सड़न-गलन प्रारम्भ हो जाएगी, किन्तु डॉ. जैन की ये सब मान्यताएँ बिल्कुल गलत हैं। जमीकन्दों को ज़मीन से बाहर निकालने के बाद वे अजीव नहीं होते हैं; ज़मीन से बाहर निकालने के बाद बहुत लम्बे समय तक वे सजीव ही रहते हैं। उन्हें निर्जीव करने का सिर्फ एक ही उपाय परकाय शस्त्र से घात अर्थात् छुरी से टुकड़े करना या अग्नि से पकाना आदि।

दूसरी बात यह कि जीव-राशि समाप्त होने के बाद उसमें सड़न-गलन होनी ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। आधुनिक युग में और प्राचीन मिस्र (ईजिप्ट) में मृतक आदि को लम्बे समय तक रखने के लिए शूष्कीकरण (डीहाइड्रेशन) की पद्धति अपनायी जाती है (थी) और प्राचीन मिस्र के पिरामिडों से प्राप्त ममी इस बात को सिद्ध करती है; अतः जमीकन्दों में जीवराशि समाप्त होने पर यदि उन्हें

शुष्क बनाया जाता है, तो उनमें सड़न-गलन नहीं होती है; जैसे—अदरक। अदरक में जीवराशि समाप्त होने के बाद, उसका शुष्कीकरण अपने-आप हो जाता है; किन्तु आलू आदि में शुष्कीकरण अपने-आप नहीं होता। उन्हें छुरी आदि से काटने के बाद ही उनका शुष्कीकरण हो सकता है, अतः शुष्क अदरक भक्ष्य है और आलू आदि अन्य जमीकन्द शुष्क होने के बाद भी अभक्ष्य हैं।

डॉ. जैन का दूसरा तर्क यह है कि गैर-जमीकन्दों में लट (कीड़े) आदि पाये जाते हैं, पर जमीकन्द को काटने पर वे एकदम साफ ही पाये जाते हैं; किन्तु यहाँ यह जानना जरूरी है कि जैन शास्त्रकारों ने अनन्तकाय वनस्पति का लक्षण अर्थात् पहचान ही यह बतायी है कि साधारण (अनन्तकाय) वनस्पति को छेदने पर, उसके व्यवस्थित टुकड़े होते हैं, उनमें तन्तु और ग्रन्थि आदि तथा उसके पर्ण में शिराएँ नहीं होती हैं। जमीकन्द वस्तुतः विज्ञान की परिभाषा में मूल का ही रूपान्तर (मॉडिफिकेशन ऑफ रूट) है; अतः जमीकन्द अन्दर से साफ-सुथरे होने से ही भक्ष्य नहीं बन जाते हैं।

एक अन्य प्रश्न यह है कि क्या मूंगफली जमीकन्द में गिनी जाती है, या नहीं? वस्तुतः मूंगफली जमीन के अन्दर होने पर भी जमीकन्द में नहीं गिनी जाती क्योंकि मूंगफली के ऊपर के छिलके तन्तु-युक्त होते हैं। अन्य जमीकन्द की तरह मूंगफली का हर कोई अंग, नया छोड़ (पौधा) उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, या उसके टुकड़े भी नया पौधा उत्पन्न नहीं कर सकता; जबकि आलू आदि का कोई टुकड़ा नया पौधा उत्पन्न कर सकता है। इस तरह साधारण (अनन्तकाय) वनस्पति-काय के कोई भी लक्षण मूंगफली में नहीं पाये जाते हैं, अतः मूंगफली भक्ष्य है।

जीवों के भेद

डॉ. जैन ने जीवों के लिए के बारे में प्रश्न उठाया है कि जैन शास्त्रों के अभिप्रायानुसार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव नपुंसक होते हैं और उनका जन्म संमूच्छन-रीति से होता है; किन्तु विज्ञान ने इसे गलत बताया है। विज्ञान ने यह बताया है कि चींटियाँ, मक्खियाँ-मधुमक्खियाँ आदि में रति-क्रिया होती है और उनमें लिंगी प्रजनन होता है, उनमें नर-मादा का भेद होता है। विज्ञान ने पेड़-पौधों में भी नर-मादा का भेद बताया है।

डॉ. जैन का प्रश्न उपयुक्त है; लेकिन उनका उत्तर पाने के लिए हमें व्यवस्थित रूप से जैन शास्त्रों का परिशीलन तथा चिन्तन-मनन करना चाहिये। पहले तो जैन शास्त्रों में आये हुए परस्पर-विरोधी-वचनों का नय की दृष्टि से समन्वय करना होगा। दशपूर्वधर तत्त्वार्थ-सूत्रकार वाचक उमास्वति समग्र ब्रह्माण्ड के सभी जीवों का लिए बताते हुए, तत्त्वार्थ-सूत्र के दूसरे अध्याय में कहते हैं कि 'नारक संमूर्च्छनो नपुंसकानि ॥५१॥ न देवाः ॥५२॥' अर्थात् नारक योनि में उत्पन्न होने

वाले जीव और सभी समूच्छिम जीव नपुंसक होते हैं। देवता (देव योन) में कोई नपुंसक नहीं होता अर्थात् वहाँ देव (पुरुष) और देवी (स्त्री) दो ही प्रकार हैं। जो गर्भज, मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यच होते हैं, उनमें तीनों लिंग होते हैं।

इसी 'तत्त्वार्थ-सूत्र' में जन्म के तीन प्रकार बताये गये हैं - (१) समूच्छिमज (२) गर्भज (३) उपपात। देव और नारक सिर्फ उपपात पद्धति से ही जन्म लेते हैं। गर्भज जन्म के तीन प्रकार हैं - जरायुज, अण्डज और पोतज। मनुष्य, गाय, भैंस, घोड़ा, हिरण आदि जरायुज हैं। सर्प, कोयल, मत्स्य, कछुआ इत्यादि अण्डज हैं और लोमपक्षी हंस, शुक, कबूतर, बाज, कौआ, मयूर आदि भी अण्डज होते हैं। नकुल, शश, मूषक इत्यादि और जलूका, वल्गुलि, चिमगादड़, भारण्ड इत्यादि चर्मपक्षी पोतज हैं। ये सब पंचेन्द्रिय ही हैं। इनके अलावा एकेन्द्रिय से ले कर चतुरिन्द्रिय तक सभी समूच्छिम हैं।

दूसरी ओर श्रुत केवली चतुर्दशपूर्वधर आचार्य श्री भद्रबाहु द्वारा संकलित 'कल्पसूत्र' में पाँच प्रकार के सूक्ष्म अंडे बताये हैं।

'से कि तं अंडं सुहुमे? अंडं सुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा उद्दंसंडे, उक्क-लियंडे, पिपीली अंडे, हल्लिअंडे, हल्लोहल्लि अंडे। -कल्पसूत्र, सामाचारी।

वे सूक्ष्म अंड कौन-से हैं? वे सूक्ष्म अंड पाँच प्रकार के हैं: १. उद्दंशाण्ड-मधमक्खी, मत्कुण आदि के; २. उत्कलिकाण्ड-मकड़ी के अंडे; ३. पिपीलिकाण्ड - चींटी आदि के अंडे; ४. हल्लिकाण्ड - छिपकली आदि के अंडे; ५. हल्लोहल्लि काण्ड - गिरगिट आदि के अंडे।

एक ओर वाचक उमास्वाति का वचन है, दूसरी ओर श्रुतकेवली आचार्य श्री भद्रबाहु का वचन है। दोनों के वचन परस्पर-विरुद्ध लगते हैं; किन्तु हमें ख्याल रखना है कि दोनों वचन नय-सापेक्ष हैं; अतः निश्चय नय की दृष्टि से विचार करने पर वाचक उमास्वाति का वचन सही प्रतीत होता है और व्यवहार नय की दृष्टि से आचार्य श्रीभद्रबाहु का; क्योंकि चींटी, मक्खी, मत्कुण (खटमल) इत्यादि समूच्छिम जन्तु होने की वजह से नपुंसक होने पर भी, वे अपने शरीर में-से ऐसे पदार्थ निकालते हैं कि जिन्हें लोक में आमतौर से अंडे के नाम से पुकारा जाता है। अब केवल प्रश्न यही रहा है कि यदि वे सब नपुंसक हैं तो उनमें मैथुन की प्रक्रिया - नर-मादा के संयोग की प्रक्रिया - क्यों होती है?

सर्व जीवों में व्यक्त या अव्यक्त रूप में निम्न चार संज्ञाएँ होती हैं: १. आहार; २. भय; ३. मैथुन; ४. परिग्रह। शास्त्रों में कहीं-कहीं दस संज्ञाएँ भी बतायी गयी हैं जिनमें इन चारों का समावेश हो जाता है; अतः जीव-मात्र में, चाहे वह पुल्लिंग हो या स्त्रीलिंग या नपुंसक, मैथुन की संज्ञा होगी ही, अतः संसार के सभी जीवों में मैथुन की क्रिया होती है; किन्तु जैसे देवयोनि और नारक योनि

में यही प्रक्रिया प्रजनन का कारण नहीं बनती है, वैसे ही एकेन्द्रिय से ले कर चतुरिन्द्रिय तक सभी जीवों में, मैथुन की क्रिया होने पर भी वह प्रजनन (रि-प्रोडक्शन) का कारण नहीं बनती।

कर्म-ग्रन्थ, कर्म-प्रकृति इत्यादि ग्रन्थों के अनुसार पुरुष वेद तृण की अग्नि के समान है, उसे तुरन्त ही काम-तृप्ति हो जाती है; स्त्री वेद राख-से-ढँकी अग्नि के समान है, उसे कामतृप्ति होने में काफ़ी देर लगती है; जबकि नपुंसक वेद महानगर की अग्नि के समान है, जिसे कभी काम-तृप्ति नहीं होती; अतः नपुंसक लिंग वाले जीवों में मैथुन की संज्ञा सबसे अधिक सक्रिय होती है; और कभी-कभी तो यह अतृप्ति ही उसकी मृत्यु का कारण बनती है; जैसे—मधुमक्खी।

‘मनुस्मृति’ में कहा है ‘स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः’ अर्थात् द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी अपने-अपने मल-मूत्र-स्वेद इत्यादि में उत्पन्न होते हैं; अतः हम उनके द्वारा उत्सर्जित पदार्थों को ही अंडा मानते हैं और यही हमारा भ्रम होता है।

हाल में अहमदाबाद से प्रकाशित दैनिक समाचार पत्र ‘संदेश’ की (८-७-१९८७) की ‘ज्ञान-विज्ञान’ पृष्ठ में छिपकली (लिझार्ड) के बारे में बताया गया है कि ‘व्हिप टैल लिझार्ड’, जो दक्षिण-पश्चिम अमेरिका और उत्तर मेक्सिको में पायी जाती है, में केवल नारी जाति अर्थात् मादा ही होती है। इन पर प्रा. डेविड फ़यूज़ ने प्रयोग किये हैं। उन्होंने दो मादा छिपकलियों को एक पिंजरे में रखा। इनमें-से एक छिपकली नर छिपकली की तरह व्यवहार करने लगी और दूसरी मादा-छिपकली की तरह। मादा-छिपकली की तरह व्यवहार करने वाली छिपकली से अंडे प्राप्त हुए; किन्तु दस-पन्द्रह दिनों के बाद चक्र बदल गया। जो छिपकली मादा-छिपकली की तरह व्यवहार करती थी, वह अब नर-छिपकली की तरह व्यवहार करने लगी और जो छिपकली नर की तरह व्यवहार करती थी, वह मादा-छिपकली की तरह व्यवहार करने लगी।

‘संदेश’ में दिये गये फोटोग्राफ़्स में दोनों समलिंगी छिपकलियों की मैथुन की क्रिया बतायी गयी है; अतः यह सिद्ध होता है कि छिपकली, जो जैन जीव-विज्ञान के अनुसार चतुरिन्द्रिय है, उसमें भी मैथुन की क्रिया प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनती है।

पुद्गल-स्कन्ध के भेद

डॉ. जैन ने एक और प्रश्न पुद्गल-स्कन्ध के छह भेदों के बारे में किया है। उनका कहना है कि वायु को जैन शास्त्रकारों ने सूक्ष्म-बादर श्रेणी में रखा है और प्रकाश को बादर-सूक्ष्म श्रेणी में अर्थात् प्रकाश से वायु को अधिक सूक्ष्म बताया गया है जबकि विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि वायु के कण से प्रकाश के कण अधिक सूक्ष्म हैं; अतः जैन दर्शन की मान्यता गलत है और स्कन्ध के भेदों को पुनः परिभाषित किया जाना चाहिये।

इस जगह पुद्गल स्कन्ध के छह भेदों— १. बादर-बादर, २. बादर, ३. बादर-सूक्ष्म, ४. सूक्ष्म-बादर, ५. सूक्ष्म, ६. सूक्ष्म-सूक्ष्म में-से (१) बादर-बादर (२) बादर- (३) सूक्ष्म (४) सूक्ष्म-सूक्ष्म के बारे में सब सही लगता है; सिर्फ बादर-सूक्ष्म और सूक्ष्म-बादर पर ही हमें ध्यान केन्द्रित करना है। जैन शास्त्रों के कोई भी विधान नय-सापेक्ष ही हैं; अतः वे अन्य नयों की अपेक्षा गलत हो सकते हैं; किन्तु सर्वथा असत्य नहीं हैं।

पुद्गल के उपर्युक्त छह भेदों में-से वायु को सूक्ष्म-बादर श्रेणी में और प्रकाश को बादर-सूक्ष्म श्रेणी में रखा गया है; अतः उनमें शास्त्रकार का वचन सापेक्ष ही है। बहुत-कुछ विचार करने पर ऐसा लगता है कि शास्त्रकार ने वायु और प्रकाश को यथायोग्य श्रेणी में रखा है। यहाँ डॉ. जैन प्रकाश, प्रकाश-के-कण (फोटोन) ग्रहण करते हैं और वायु से हाइड्रोजन, ऑक्सीजन ऐसे वायु के कण (मोलीक्यूल) को ग्रहण करते हैं। वस्तुतः ऐसा है नहीं। यहाँ वायु से वायुकायिक जीवों का शरीर लेना चाहिये, उनमें हम वायु-के-कण (मोलीक्यूल) को ही वायुकायिक जीव का शरीर मान सकते हैं, किन्तु प्रकाश के बारे में ऐसा नहीं है। यहाँ प्रकाश से तेज-स्कायिक जीवों का शरीर लेना चाहिये, क्योंकि वह शरीर औदारिक वर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न है, जैसे वायुकायिक जीवों का शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गल-स्कन्धों से निष्पन्न है। इस तरह विचार करने से अग्नि स्वयं औदारिक वर्गणा में आ सकती है और उनमें से मुक्त होने वाले कण फोटोन पार्टिकल्स उन से भिन्न हो सकते हैं। उनका समावेश तैजस् वर्गणा में हो सकता है। यहाँ याद रखें कि तैजस्काय (अग्नि) और तैजस् वर्गणा के पुद्गल-स्कन्धों में बहुत-कुछ अन्तर है। 'तेजकायिक' जीवों से तैजस् वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध अधिकतर सूक्ष्म हैं।

अतः व्यवहार नय से तैजस्कायिक जीवों और वायुकायिक जीवों को ही यहाँ पुद्गल-स्कन्ध के रूप में ग्रहण किया है, ऐसा मानने पर यह वर्गीकरण यथायोग्य प्रतीत होता है और हम अग्नि को स्पष्ट रूप से आँखों द्वारा देख सकते हैं, स्पर्श करने पर उष्ण स्पर्श का अनुभव भी होता है, जबकि वायु केवल स्पर्श से ही (जब गतिमान होती है तब) इन्द्रियगोचर होती है; अतः अग्नि को (प्रकाश नहीं, किन्तु प्रकाश उत्पन्न करने वाली ज्योति को) बादर-सूक्ष्म श्रेणी में और वायु को सूक्ष्म-बादर श्रेणी में रखना उपयुक्त है।

डॉ. जैन ने भृगोल और खगोल के बारे में भी प्रश्न उठाये हैं किन्तु इसके प्रश्नों बारे में अभी बहुत-कुछ संशोधन (रिसर्च) करना बाकी है, अतः हम यथावसर उन के उत्तर भी देंगे।

हमने डॉ. जैन के प्रश्नों के यथामति उत्तर दिये हैं, जो जैन शास्त्रों से सम्मत हैं। आशा है कि पाठकों को इससे सन्तोष होगा। —मुनि नन्दीघोष विजय, खंभात

बाल-कहानियों का अभिनव प्रकाशन*

‘मैं पल-पल में नन्हें बालकों में विराजमान महान् आत्मा के दर्शन करता रहता हूँ; यह दर्शन ही मुझे इस बात के लिए प्रेरित कर रहा है कि मैं बालकों के अधिकारों की स्थापना के लिए जिन्दा रहूँ और इस काम को करते-करते ही मर-मिट जाऊँ।’—ये उद्गार हैं स्व. गिजुभाई बधेका के। वे बालकों के लिए ही जीए और अक्षरशः उन्हीं के लिए मरे। इसी प्रकार उन्होंने कहा था: ‘मैं तो पचास साल जी कर सौ साल का काम करने में विश्वास रखता हूँ। इसी आत्म-विश्वास के साथ स्व. गिजुभाई ने गुजरात में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में बालशिक्षा का अलख जगा कर बाल-साहित्य में जो मौलिक अभिवृद्धि की, वह सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ है। गत वर्ष उनका जन्म-शताब्दी वर्ष मनाया गया था।

इस वर्ष को ध्यान में रख कर गिजुभाई के गुजराती बाल-साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करने का बीड़ा श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने उठाया था, जिसे वे आज भी पूरी निष्ठा के साथ कर रहे हैं। उन्होंने गिजुभाई की बाल-कथाओं की मूल भावना और भाषा को आत्मसात् करके हिन्दी में उनका सरल, सरस, और सहज अनुवाद किया, जिन्हें सस्ता साहित्य मण्डल ने प्रकाशित किया है।

गिजुभाई की प्रस्तुत बाल-कथाएँ पाँच भागों में हैं, जिनके शीर्षक क्रमशः हैं—‘कहानी कहूँ भैया’ ‘सात पूँछोंवाला चूहा’ ‘चंदाभाई की चाँदनी’ ‘माँ-जाया भाई’ ‘मैंढक और गिलहरी’। प्रत्येक भाग के प्रारंभ में गिजुभाई का शिक्षक भाई-बहनो से निवेदन, और काका कालेलकर की भूमिका है। कुल मिला कर ३३६ पृष्ठों में ३१ कहानियों का समावेश किया गया है। प्रत्येक कहानी का प्रतीक चित्र है। प्रत्येक भाग का आवरण-पृष्ठ रंगीन है। अक्षर बड़े हैं। छपाई साफ-सुथरी है।

आशा है, बाल-रुचि पर आधारित सहज हिन्दी में अनुवादित, आकर्षक रूप में प्रस्तुत-प्रकाशित गिजुभाई की इन बाल-कथाओं को सर्वाधिक बालकों तक पहुँचाने के लिए व्यक्तिगत और सार्वजनिक प्रयत्न अवश्य किये जाएँगे।

—प्रेमचन्द जैन

* गिजुभाई की बाल-कथाएँ (भाग १,२,३,४,५); अनुवाद-काशिनाथ त्रिवेदी; सस्ता साहित्य मण्डल, एन-७७, कॅनाट सर्कस, नई दिल्ली-११० ००१; मूल्य-(प्रत्येक) पाँच रुपये; पृष्ठ (कुल) ३३६; आउन-१९८६।

‘धर्मयुग’ और ‘तीर्थंकर’

यह एक संयोग ही था कि ‘धर्मयुग’ का रोमांचक विशेषांक जिसमें पंजाबी की शीर्षस्थ कवयित्री अमृता प्रीतम का ‘भृगुसंहिता’ की भविष्यवाणियों को सश्रद्ध प्रणाम करता हुआ आलेख है और ‘तीर्थंकर’ का ‘टोना-टोटका विशेषांक’ एक साथ मुझे मिले। सच कहूँ, मेरा माथा ठनक गया। मैं डर गया कि शायद ‘तीर्थंकर’ भी हिन्दी की अनेक चिकनी-चमकीली और प्रतिष्ठित पत्रिकाओं की तरह उस सबके समक्ष घुटने टेकने जा रहा है जो अवैज्ञानिक और तर्कहीन तो हैं ही, मनुष्य को मूर्ख बनाये रखने के ऊँचे लोगों के षडयंत्र का हिस्सा भी हैं।

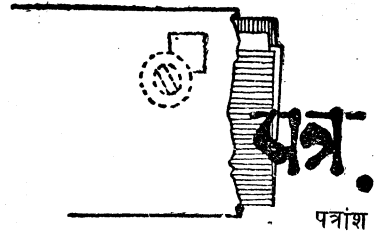
‘टोना-टोटका विशेषांक’ को झटपट पलटा। ‘संपादकीय’, दिनकर सोनवलकर की कविताएँ, डॉ. कण्ठदीपाल जैन, नरेन्द्र प्रकाश जैन का लेख तथा अन्य बहुत-सी सामग्री पढ़ गया। आपके ‘संपादकीय’ से शब्दों को ले कर कह सकता हूँ कि यह विशेषांक मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच एक स्पष्ट भेद-रेखा खींचने में सफल रहा है।

खुशी है कि ‘तीर्थंकर’ के पाँव सही तथा पुरुषार्थ की दिशा में बढ़ रहे हैं और उसने सहज बिकाऊ माल परोसने की लोभी एवं चालाक वृत्ति के समक्ष समर्पण करने से मना कर दिया है। काश, वर्तमान दशक की अन्य अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी पत्रिकाएँ भी ऐसा कर पातीं। बढ़ाई।

— डॉ. जयकुमार जलज, रतलाम

सूक्ष्मबूझ एवं साहसपूर्ण

टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक गृहदम और पाखण्डवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी शंखनाद है, जिसमें मंत्र-तंत्र टोना-टोटका के नाम पर चलने वाली दुकानों का पर्दाफाश करके इनकी धोखाधड़ी से बचाने का प्रयत्न



किया गया है। धर्म की ओट में भी कितना दर्दनाक शिकार खेल रहे हैं लोग, जिसे पढ़ कर आप सहम जायेंगे। भोली-भाली जनता को धर्म का मुखौटा लगा कर एवं झूठे झाँसे दे कर ये अपना किस तरह का जाल फैला चुके हैं, यह जान कर आप आश्चर्य में डूब जायेंगे।

‘लघुविद्यानुवाद’ जैसे आगमके नाम पर धिनौने प्रकाशन का एक-एक उदाहरण देकर २२ पृष्ठों में जो पोस्ट मार्टम किया है उसे पढ़ कर तो भयंकर आश्चर्य होता है कि हमारे दिगम्बर मुनि-धर्म को कैसा कलंकित किया जा रहा है। इसमें मारण, उच्चाटन, वशीकरण जैसी पैशाची मंत्र सिद्ध करने के लिए एक मुनि ने कैसे हिंसक, निन्द्यतम, घृणित प्रयोगों का उल्लेख किया है जिसे कोई भी कुलीन व्यक्ति नहीं बता सकता है। दुश्मन को मारने के उपाय, स्त्रियों को वश में करने का उपाय क्या कोई महाव्रतधारी उल्लेख कर सकता है? संपादकजी ने इन सबका उल्लेख करने में बड़ा साहस दिखाया है।

ऐसे कुकृत्यों का पर्दाफाश करने वालों को भी मुनि-निंदक का टाइटिल मिल जाता है। ऐसी स्थिति में इस विशेषांक का निकलना अतिसाहस ही कहा जाएगा। इस विषय में प्रखर विद्वानों के ३४ लेख इसमें संकलित किये गये हैं। यद्यपि यह तीन माह का संयुक्तांक है; किन्तु इस विशेषांक ने बड़े-बड़े रहस्य उद्घाटित किये हैं। संपादकजी इस सूक्ष्म-बूझ व साहसपूर्ण

अपूर्व संकलन के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

— 'सन्मति सन्देश', दिल्ली
लेकिन उसे सिर्फ

'तीर्थकर' का 'टोना-टोटका विशेषांक' तो मुझे मिल गया है, 'शाकाहार क्रान्ति' नहीं मिली। 'टोना-टोटका' विशेषांक में 'लघु-विद्यानुवाद' के संबन्ध में आपने जिस साहस और निर्भीकता से लिखा है वह सब यद्यपि हम भी महसूस करते थे; लेकिन उसे सिर्फ डॉ. नेमीचन्द्रजी की लेखनी ही लिख सकती थी। वैसे कई लेखकों ने इसके विरोध में आवाज उठायी है; किन्तु प्रकाशकों और उनके प्रशंसकों पर कोई प्रभाव पड़ता मुझे नहीं दिखायी दे रहा है। आज भी समाज में मुनियों का बहुत सम्मान है और वर्चस्व भी है; किन्तु बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कुछ ही अपवादों को छोड़ कर अधिकतर साधु इस कार्य में लगे हुए हैं। शायद भक्तों को आकर्षित करने के लिए उनके पास एकमात्र यही साधन रह गया है।

— ज्ञानचन्द्र खिन्दूका, जयपुर

जड़ें बहुत गहरी हैं

'तीर्थकर' का 'टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक' में देश में/समाज में व्याप्त टोना-टोटका/जंतर-मंतर की बातें पाखण्डवाद हैं— इस विषय पर खुल कर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत अंक में ३४ चोटी-के विचारकों की रचनाएँ हैं, जो मिथ्यात्ववाद के विरुद्ध जिहाद हैं, जन-जागरण में सफल प्रयास हैं। आज के वैज्ञानिक युग में भी कई बड़े-बड़े समझदार विद्वान् आदि भी इस टोना-टोटका/जंतर-मंतर के चक्कर में हैं। इस पाखण्डवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं।

जैन तीर्थकरों/आचार्यों ने तो इस बुराई से बचाने के लिए समय-समय पर जोरदार आवाजें उठायी हैं/प्रयत्न किये हैं; पर दुःख है कि आज अन्यों के संसर्ग से, या

जैनतत्त्व और सिद्धान्तकी गहन जानकारी के अभाव में गलत मान्यताएँ/क्रियाएँ जैनों में भी फैली हुई हैं।

जैनधर्म में ऐसे मिथ्यात्व का कोई स्थान नहीं। जैनधर्म कर्म-फिलासफी को मानने वाला है। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल मिलता है— कोई भी स्याना/भापा/ओलिया/उस्ताद/गुरु समर्थ नहीं जो जादू-टोना/जंतर-मंतर के द्वारा कुछ भी कर सके।

इन बातों को सार्वजनिक रूप से उजागर कर समाज को सन्मार्ग की ओर लाने के उद्देश्य से डॉ. नेमीचन्द्रजी ने इस विषय पर तीर्थकर का यह अंक निकाल कर बड़े साहस का कार्य किया है। आवश्यकता है जैनों में जो मिथ्यात्व-वर्धक मान्यताएँ और क्रियाएँ प्रचलित हैं उन्हें समूल नष्ट किया जाए उन्हें कोई प्रोत्साहन न मिले। 'तीर्थकर' का यह अंक जनमानस को आंदोलित करेगा— इसमें शक नहीं। यह अंक स्वाध्याय के रूप में पढ़ने हेतु हर मंदिर के शास्त्र-भंडार में पहुँचना चाहिये।

— 'वीरवाणी', जयपुर

इसकी कटु आलोचना होनी चाहिये

'टोना-टोटका अंक सामयिक चेतावनियों की एक मंजूषा है। टोने, टोटके, यंत्र, मंत्र, तंत्र, स्वप्न, शकुन आदि संबन्धी अन्धविश्वासों और परंपराओं के खोखलेपन को उघाड़ने की लेखकों ने पूरी चेष्टा की है। 'लघुविद्यानुवाद' को भारी-भरकम कलेवर संभवतः उसे महाविद्यानुवाद बनाने के उद्देश्य से दिया गया है। इसकी कटु आलोचना होनी चाहिये, पर इतना श्रम और स्थान देना प्रच्छन्न संस्तुति अथवा 'तो बड़ी किक्स ए डेड डॉग' वाली उक्ति के अनुसार कौतूहल-प्रसूत आकर्षण का कारण भी बन सकता है। कुल मिला कर अंक बहुत सशक्त बन पड़ा है।

— कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

प्रत्येक विशेषांक एक संदर्भ-ग्रन्थ

जैन समाज में अब तक प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में 'तीर्थंकर' पत्रिका ने जो गौरव पाया है, वह बेजोड़ है। यथार्थतः डॉ. नेमीचन्द्रजी एक प्रतिभावान् विलक्षण विद्वान् हैं; 'तीर्थंकर' का प्रत्येक विशेषांक एक संदर्भ-ग्रन्थ की तुलना में कम नहीं है। यह अंक टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक के रूप में अपनी अप्रतिम सामग्री के साथ प्रकाशित हुआ जो अपने-आप में अनुपम है; सम्पादक जी बधाई के पात्र हैं।

— 'वीतराग वाणी', टीकमगढ़

भगवान् महावीर और विक्रान्त-भैरव

'तीर्थंकर' का 'टोना/टोटका विशेषांक' पढ़ा। आपके बिलकुल समयोचित एवं अनिवार्यतया आवश्यक इस साहस के लिए बहुत धन्यवाद। हमारे समाज में एवं साधु-गण में अत्यन्त अनुचित/कुत्सित रूप में बढ़ गये टोने-टोटकों के प्रदूषण का ऐसे अनेकानेक प्रहारों बिना खातमा असंभव है। फिर आपका प्रयास ठोस एवं सप्रमाण है। आपकी क्लम में आध्यात्मिक स्पर्श भी है, प्रदूषणजनित हृदयवेधी व्यथा भी।

एक बात, जो आपके खयाल में शायद आयी नहीं, का ध्यान दिलवाता हूँ—

८ नवम्बर, १९८६ को 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (दिल्ली) का 'तन्त्र विशेषांक' छपा था। उसमें उज्जैन के महाकाल या कालभैरव के विषय पर डॉ. रामसिंह यादव का एक लेख था। इस लेख में लेखक ने बताया था कि 'भगवान् महावीर ने भी विक्रान्त भैरव की साधना की थी, इसका प्रमाण मिलता है'।

क्या आपका ध्यान इन विधानों के प्रति नहीं गया? अगर गया होता तो विशेषांक में आपने इस असत्य विधान का

प्रतिवाद किया होता। मैं आपको सूचन करना चाहता हूँ क आप उक्त लेख को पढ़ें एवं डॉ. यादव से सम्पर्क भी करें; और अगर शक्य हो तो डॉ. यादव से ही उनके विधान का सफाया करवायें, अथवा आप 'तीर्थंकर' में इस विषय पर प्रकाश डालें।

हुआ ऐसा कि डॉ. यादव के लेख का संक्षेप गुजराती दैनिक पत्र 'सन्देश' में छपा। मैंने लेखक को सूचन लिखा, तो उन्होंने स्वीकार कर ली मेरी बात; किन्तु कोई स्पष्टीकरण नहीं छापा। मुझे लगता है कि हल्की उपासना के इस जमाने में भगवान् के नाम से किये जाने वाले ऐसे अनुचित असत्य विधानों को सस्ती लोक-प्रियता मिल जाती है, जिससे मात्र गलत-फ़हमी ही बढ़ती है; अतः इसका प्रतिविधान उचित ढंग से करना जरूरी है।

अब विशेषांक के बारे में कुछ—

(१) विशे. पृ. २५ में नागार्जुन द्वारा उपासित पार्श्वनाथ प्रतिमा का निर्देश है। उस प्रतिमा का नाम है स्तम्भन पार्श्वनाथ जो नील रत्नमय है, और आज भी खम्भात में मौजूद है। पहले डाकोर के पास थामणा (स्तम्भनक, थंभण-थांभणा-थामणा) में थी। नागार्जुन-द्वारा रस-स्तम्भन हुआ, उसके अनूल्क्ष्य में 'स्तम्भनक' ग्राम बना एवं वहाँ स्तम्भन पार्श्व की मूर्ति रही। मुस्लिम आक्रमण के समय में वह खम्भात (स्तम्भ-तीर्थ) लायी गयी।

(२) विशे. पृ. ३९-४१ में प्राचीन मन्त्र-साहित्य की सूची दी गयी है। उसमें 'पवज्जा विहाण (प्रव्रज्या विधान)' प्रा. प्रा. प्रद्युम्नसूरि; र. का. १२७१ ई.' का नाम है, वह गलत है। यह ग्रन्थ तो जैन मुनि की प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा (चारित्र) का विषय बनाये हैं। मन्त्र-साहित्य का नहीं है यह ग्रन्थ। इसी तरह पृ. ४१ में 'सित्तुंज कप्प. (शत्रुंज कल्प) प्रा. धर्मघोषसूरि

नाम' का उल्लेख है, वह भी काटियावाड़ के प्रसिद्ध जैनतीर्थ शत्रुंजय-पर्वत की महिमा दर्शाने वाला ग्रन्थ है, न कि कोई शत्रु-का-वध करने की क्रिया का तन्त्र-ग्रन्थ। इसी तरह सिद्ध चक्र यन्त्रोद्धार (सिद्ध मन्त्र चक्रोद्धार) गलत छपा है भी पंचपरमेष्ठि या नव पद की उपासना/आराधना है।

इसी तरह 'गिरनार कल्प' गिरनार तीर्थ की वर्णना मात्र हैं। 'गौतम पूच्छा' प्रभु वीर को गुरु गौतम द्वारा पूछे गये आध्यात्मिक प्रश्नों एवं उनके उत्तर-स्वरूप औपदेशिक ग्रन्थ हैं।

'ज्ञान मंजरी' भी संभवतः मन्त्र-ग्रन्थ नहीं, उपदेश-ग्रन्थ लगता है।

'चन्द्रोन्मीलन' ज्योतिष विषयक रचना है।

— पं. शीलचन्द्र विजय, खम्भात (गुजरात)

इसने पत्रकारों को भी झकझोरा है

'तीर्थकर' ने निःसंदेह अपनी अलग पहचान बनायी है। उसकी सशक्त भाषा-शैली और विचारणीय विषयवस्तु में पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता है। किसी की अनावश्यक कटु आलोचना-टीका-टिप्पण किये बिना सामयिक विषय को अपने ढंग से प्रस्तुत कर देना उसकी अपनी निजी विशेषता है।

'टोना-टोटका / जन्तर-मन्तर विशेष-पांक' ने जन-मानस में तो हलचल पैदा की ही है, पत्रकारों के हृदयों को भी झकझोर दिया है। यही कारण है कि विवेकी विद्वानों व प्रसिद्ध पत्रिकाओं ने इसकी किसी-न-किसी रूप में चर्चा करना अपना कर्तव्य माना है। इससे प्रबुद्ध पाठक तो चेतेंगे ही, आशा है भोली-भाली जनता भी लाभान्वित होगी।

वस्तुतः जैनदर्शन व अध्यात्म में टोना-टोटका व जन्तर-मन्तर का कोई स्थान नहीं

है। यह पाखण्डवाद एकान्ततः अज्ञान और यशोलिप्सा की उपज है। भोले-भाले अन्धश्रद्धालुओं की श्रद्धा और उनका धन लूटने का घटिया तरीका है। इससे धर्म का तो कोई संबन्ध है ही नहीं, लौकिक लाभ से भी इसका कोई संबन्ध नहीं है; क्योंकि धर्म तो एक वीतराग भाव है, जो वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की शरण में जाने से एवं वीतरागता की आराधना से ही प्राप्त हो सकता है तथा बाह्य लौकिक लाभ भी पुण्याश्रित है, एतदर्थ भी टोना-टोटका या जन्तर-मन्तर निरर्थक ही हैं।

प्रस्तुत विशेषांक में ३४ विचारकों के अर्थपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण विचार संकलित हैं, जो पाठकों को अवश्य ही दिशा-निर्देश देंगे। लगभग सभी लेखकों ने जन्तर-मन्तर के पोपडम पर अच्छे कुठाराघात किये हैं, परन्तु अफसोस यह है कि इस पाखण्डवाद की जड़ें पढ़े-लिखे लोगों तक में इतनी गहरा गई हैं कि उन्हें उखाड़ना तो दूर, हिलाना भी कठिन हो गया है। इसका मूल कारण साधु-संतों द्वारा इसका संरक्षण और धर्म के नाम पर इसका प्रचार करना व पोषण देना है। यह ऐसा घुन है जो जिनशासन व जैनसमाज को खोखला कर रहा है। इसके चक्कर में साधु-संत भी स्वाध्याय जैसे ज्ञानवर्द्धक पावन कार्य को गौण करके; अध्ययन-मनन को ताक में रख कर इसमें स्वयं भी उलझ रहे हैं और जनता को भी उलझा रहे हैं।

— जैन पथ प्रदर्शक' (संपादकीय-अंश);

जयपुर

सद्विवेक की प्रज्वलित मशाल

'तीर्थकर' का 'टोना-टोटका/जन्तर-मन्तर विशेषांक' मिला। सचमुच प्रस्तुत विशेषांक १५ वर्षों से तैयार की जा रही विशेषांकों की एक लम्बी और भव्य शृंखला

की २६ वीं कड़ी है, जो निश्चय ही अन्ध-विश्वास-ग्रस्त एवं अज्ञान-अन्धकार में भटकते लोगों के लिए सद्बिद्वेक की प्रज्वलित मशाल का काम करेगी। वास्तव में अधिकारी लेखकों की क्रलम से लिखी गयी इसकी समूची सामग्री ठोस और मौलिक है। प्रासंगिक रचनाओं का संयोजन भी अच्छा हुआ है। आपने 'लघुविद्यानुवाद' की खाल खूब उधेड़ी है। मैं तो कहूँगा 'लघु-विद्यानुवाद' ने दिगम्बरत्व को उपहास का पात्र बनाया है। . . . विशेषांकों की शृंखला में हर वर्ष नयी-नयी कड़ियाँ जोड़ते रहने से जैन पत्रकारिता के क्षेत्र में 'तीर्थकर' अपनी सानी का एक ही पत्र है।

—मूलचन्द्र पाटनी, बम्बई

प्रश्न एकदम मौजू है

'तीर्थकर' का विशेषांक एक विशिष्ट उद्देश्य को ले कर काफी परिश्रम के साथ तैयार किया गया है। वैसे तो आज के इस वैज्ञानिक युग में टोने-टोटके, जंतर-मंतर पर विश्वास करना ही दकियानुसी मामला है, पर इस विशेषांक में इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के जो महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये गये हैं, उनमें इस विषय को वैसे ही नहीं नकार दिया गया है, बल्कि विषय को काफी गहराई में जा कर, एक सत्यशोधक के नाते, सांगोपांग रखने का प्रयत्न किया गया है।

सम्पादकजी ने माना है कि टोना-टोटका, जन्तर-मन्तर एक स्वतन्त्र विद्या है, पर उसका अध्यात्म के साथ दूर का भी लेना-देना नहीं है; बल्कि अपने क्षुद्र स्वार्थ के कारण जो लोग इन प्रपंचों में पड़ते हैं, वे आत्म-अहित ही करते हैं। दूसरी बात यह कि यह क्षेत्र सूक्ष्मताओं का क्षेत्र है, ऐसी सूक्ष्मताओं का जिसे भौतिक प्रयोगशालाओं में सिद्ध करना संभव नहीं है। निष्काम

साधक ही अपने अनुभवों से इसकी सत्यता-असत्यता का पर्दाफाश कर सकते हैं। पर आज ऐसे उच्चकोटि के महामानव साधक हैं कहाँ? इसलिए इस क्षेत्र में सत्य के स्थान पर आज ज्यादातर जो कुल चल रहा है उसमें मिथ्यात्व का ही बोलबाला है। तन्त्र-मन्त्र की असलियत पर पर्दा पड़ गया है। आज के इस वैज्ञानिक युग में ऐसी कपोल-कल्पित बातों पर सहज श्रद्धा कर लेना मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

भारतीय जनजीवन में मन्त्र-तन्त्र, शकुन-अपशकुन पर आज भी जितनी गहरी श्रद्धा है, उसे देख कर हँसी ही आती है और दुःख तो तब होता है जब ऐसे मन्त्र-तन्त्र-साधकों को हम लोग गलती से महात्मा, मुनि मान लेते हैं। सोचने की बात है कि क्या कोई वास्तविक साधु किसी का कोई अनिष्ट चाह सकता है। शत्रु का नाश करने के लिए, किसी स्त्री को अपने मोहजाल में फँसाने के लिए, वीर्य-स्तम्भन के लिए, अदृश्य होने के लिए, लॉटरी-जुएँ में जीतने के लिए कोई सच्चा साधु क्या किसी को कोई नुस्खा बतायेगा? ऐसा करना किसी गृहस्थ को एक प्रकार से पापकर्म में लिप्त होने के लिए प्रेरित या प्रोत्साहित करना ही माना जाएगा, इसलिए जो ऐसे नुस्खे बताता है या इस प्रकार के भौतिक सुख के लिए कोई तन्त्र-मन्त्र की साधना करता है, वह सही अर्थ में अध्यात्म-पुरुष तो हो ही नहीं सकता। समाज में आज यह बात डंके की चोट कहने की जरूरत है।

आज अध्यात्म में जो तन्त्र-मन्त्र घुस गया है उसने अध्यात्म के मूल स्वरूप को ही एकदम विकृत कर दिया है। प्रस्तुत विशेषांक में इसके खिलाफ सख्त आवाज़ उठायी गयी है। इसी दृष्टि से इस विशेषांक में जैन साधुओं द्वारा रचित-संकलित दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की ओर ध्यान खींचा गया

है। एक है आगम अनुयोग ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल' द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'गणितानुयोग'। इसमें मुनिश्री ने कार्यसिद्धि के लिए ऐसे अनेक नुस्खे बताये हैं जिनमें विशेष नक्षत्र में विशेष पशु-पक्षी का मांसाहार करने की सलाह दी गयी है। एक जैन मुनि ने मांसाहार के नुस्खे बताये, इससे बढ़ कर समाज का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है !

इसी विशेषांक में जिस दूसरी पुस्तक की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है वह है, जयपुर से कुन्धु-विजय ग्रन्थमाला समिति द्वारा प्रकाशित 'लघुविद्यानुवाद'। इसके संग्रहकर्ता हैं आचार्य गणधर श्री कुन्धुसागर व गणनी आधिका विजयमती माताजी। यह ग्रन्थ पाँच खण्डों में विभक्त है जिसमें शत्रु को पीड़ा पहुँचाने, उसका नाश करने, अदृश्य होने, काम-शक्ति बढ़ाने, लाँटरी-जूएँ में जीतने, किसी भी स्त्री को वश में करने के अनेकानेक नुस्खे, मन्त्र-तन्त्र दिये हैं। प्रस्तुत विशेषांक के द्वारा यह सहज प्रश्न पूछा गया है कि क्या मुनियों द्वारा इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना करना या ऐसे मन्त्र-तन्त्रों का संग्रह करना धर्मोपयोगी कार्य है? जिस व्यक्ति ने वीतरागता की ओर बढ़ने के लिए मुनिव्रत धारण किया, वह ऐसे ग्रन्थ रच कर क्या लोगों को पापकर्म की ओर प्रवृत्त नहीं कर रहा? इस सबसे कौन-सा जैनधर्म का हित-साधन हो रहा है। हमारा मानना है कि यह प्रश्न एकदम मौजू है जिसका उत्तर जैन समाज को देना चाहिये और जो साधु अपने मूल धर्म से च्युत हों उनके विरुद्ध सशक्त आवाज उठानी चाहिये और यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह सब मुनिधर्म से च्युति के अलावा और कुछ नहीं है। लोकेषणा व अध्यात्म दोनों एकदम विपरीत छोर हैं। दोनों की एक साथ साधना नहीं की जा सकती। सांसारिक सुख-सुविधाओं को त्याग कर ही अध्यात्म के पथ पर बढ़ा जा

सकता है। अध्यात्म को पकड़ कर सांसारिक सुख प्राप्त करना सम्यक्त्व नहीं, मिथ्यात्व है। जो धर्म को भी डुबोता है और व्यक्ति को भी कहीं का नहीं रखता।

आज तो अध्यात्म में लोकेषणा को इस हद तक घुसा दिया गया है कि सामान्य जन एकदम भ्रमित हो उठता है। राजस्थान में ऐसे कई जैन मन्दिर हैं जहाँ भगवान् की मूर्ति के सामने कई लोग सिर धुनते-हैं, धूजते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं? वहाँ लोग अक्सर अध्यात्म-भावना से कम, मनौती मनाने व भूत-प्रेत बाधा दूर करने की दृष्टि से ज्यादा जाते हैं। कई जैन मन्दिरों में आज वीतराग भगवान् का अब वह मूल्य नहीं रहा जो वहाँ के क्षेत्रपालों, भौमियाओं आदि का हो गया है। इन मन्दिरों में क्षेत्रपालों आदि की ही पूजा-आरती ठाट-बाट से होने लगी है, मानो वे ही सब कुछ हो गये हैं और बेचारे भगवान् तो 'बेचारे' बन कर रह गये हैं। इस सबका नतीजा यह कि वीतराग भगवान् के दर्शन से मन में जो वीतरागता आनी चाहिये वह नहीं आ पाती और चमत्कारों को धर्म-प्रभावना मान कर उनके ही मायाजाल में लोग फँसते चले जा रहे हैं। इस विशेषांक में धर्म के पहलू पर करारी चोट की गयी है।

विशेषांक में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि व्यक्ति को शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार ही अच्छा-बुरा फल मिलता है। शुभ कर्म के उदय होने पर ही आपके इष्ट-मित्र-परिजन आपको सुख पहुँचाते हैं, व्यन्तर जाति के देव भी वैसा संयोग होने पर ही आपकी मदद कर सकते हैं, पर जैसे ही मनुष्य के अशुभ कर्म का उदय होता है, ये सब निकटतम भी उसके दुश्मन बन जा सकते हैं, कइयों का तो कहीं दूर तक भी पता नहीं चल पाता। मन्त्र-तन्त्र की सिद्धि भी मनुष्य के शुभ कर्म उदय पर ही सिद्ध हो पाती है और अशुभ कर्म का उदय होने

पर न मन्त्र काम करता है, न तन्त्र। सब शक्तियों का लोप हो जाता है। इसलिए मुख्य बात मनुष्य के लिए यही हितकर है कि वह सदा मुक्तियों में प्रवृत्त रहे, लोकेषणाओं से दूर रह कर सादा, संयमित जीवन बिताता हुआ, आत्म-विकास की भीतरी यात्रा के पथ पर आगे बढ़ता जाए। साधना के उस मार्ग में अनेक सिद्धियाँ उसके चरणों में लौटें तो भी वह उनके मोहपाश में न फँसे, उसकी तरफ से आँख मीच कर उनको हेय व त्याज्य मान अपने विकास के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता रहे, यही सिद्ध पद प्राप्त करने का एकमात्र राजमार्ग है। यदि वह सिद्धियों के मोह-जंजाल में फँस गया तो उससे उसकी साधना भंग हो जाने वाली है और तब उसकी गति वही हो जाने वाली है—‘माया मिली, न राम’।

विशेषांक को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए उसमें प्राचीन व अर्वाचीन मन्त्र-तन्त्र-साधना संबन्धी साहित्य की सूची भी दे दी गयी है और विभिन्न धर्मों में इस विषय में जो एकत्र है, वह सब जानकारी उपलब्ध करा दी गयी है। अंक में २९० तान्त्रिक शब्दों की हिन्दी-व्याख्या तथा ३० अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी-अर्थ भी दे दिया गया है। अंक सभी के लिए पठनीय व मननीय है।

—‘ग्रामराज’, जयपुर

पाखण्डवाद को चुनौती

जैन पत्रों के विशेषांकों के इतिहास में ‘तीर्थकर’ ने बाजी जीत ली है। इस अंक के द्वारा ‘तीर्थकर’ की यशोध्वजा बरसों लहरायेगी। सभी लेख महत्त्वपूर्ण जागृति का सन्देश देते हैं। ‘प्रलयंकर’ के रूप में आपने ‘लघुविद्यानुवाद’ पर क्रूर बरपा कर दिया है। यदि गणेशराचार्य और गणिनीजी में थोड़ा भी विवेक शेष है तो वे इस (दु)ग्रन्थ को वापिस ले कर अपना ही कल्याण करेंगे। दिनकर सोनवलकर ने

थोड़े शब्दों में महत्त्वपूर्ण बात कह दी है। डॉ. कन्हेदीलाल का लेख विचार-योग्य है। आशा के विपरीत डॉ. नरेन्द्र प्रकाश ने सत्य को साहसपूर्वक उजागर किया है। ‘संपादकीय’ बहुत दमदार है। रूढ़िवाद और पाखण्डवाद को चुनौती देने में आपने कोई कसर नहीं छोड़ी है। बढिया केशरिया पुलाव में कंकर की तरह डॉ. निजामउद्दीन का लेख आ गया है। उन्होंने प्रथम यह तो स्वीकार किया है कि इस्लाम में मन्त्र-तन्त्र को व्यर्थ बताया है; किन्तु आगे चल कर मन्त्र-तन्त्र बता कर उनके द्वारा होने वाले फायदे दिखा कर अन्धविश्वास को ताकत देने की कोशिश की है, जो विशेषांक की भावना के प्रतिकूल है। आपने प्रतिक्रिया-वादियों से लड़ने का साहस किया है इसके लिए जितना भी धन्यवाद दिया जाए थोड़ा है। एक और दुःसाहस कीजिये। कभी ‘तीर्थकर’ का मूनियों के आचार-विचार और वर्तमान स्थिति पर एक विशेषांक निकालिये।

—राजमल पवंया, भोपाल

इससे स्वस्थ दृष्टिकोण मिलेगा

‘तीर्थकर’ का टोना-टोटका/जन्तर-जन्तर विशेषांक देखा। इस विशेषांक में जादू-टोने के प्रायः सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। विशेषांक अन्धविश्वासों को तोड़ने में सर्वथा सक्षम है। आज ऐसी सामग्री की अत्यधिक आवश्यकता है। ‘तीर्थकर’ इस दिशा में निरन्तर मार्गदर्शन कर रहा है। यही एक कारण है कि उसकी प्रतीक्षा रहती है। आते ही पत्र को, मुख्यतः ‘संपादकीय’ को, पढ़ने के पश्चात् ही मन को असीम तृप्ति की अनुभूति होती है। पूर्व विशेषांकों की तरह इस विशेषांक का भी महत्त्व है। पाठकों को इससे निश्चित ही स्वस्थ दृष्टिकोण मिलेगा।

—महेन्द्र मुनि ‘कमल’, भोलवाड़ा

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/७९

शिकार न हो जाएँ, बचकर रहिये

‘तीर्थंकर’ जैन समाज की अग्रणी पत्रिका है, जिसे पढ़ कर लगता है कि वास्तव में सम्पादकजी मेहनत करके पाठकों की रचि के अनुसार उन्हें पठनीय सामग्री देने का प्रयास करते हैं। जादु-टोना/जन्तर-मन्तर विशेषांक निकाल कर तो वास्तव में उन्होंने हिम्मत का काम किया है, अन्यथा साधुओं की वृत्तियों के खिलाफ़ जेहाद छेड़ने वाले बिरले ही हैं।

विशेषांक में ‘लघुविद्यानुवाद’ जैसे धामक ग्रन्थ पर कलम चला कर लेखक ने न्याय किया है। इससे निःसन्देह पाठकों को दिशा-बोध होगा। यदि इस प्रकार के घटिया स्तरहीन ग्रन्थों का पर्दाफाश सन् ८१ में ही सभी जैन पत्र-पत्रिकाएँ मिल कर करतीं तो शायद अन्य इसी प्रकार की कृतियाँ प्रकाशित न हो पातीं। खैर, देर आयद दुस्त आयद। ‘समन्वयवाणी’ ने तो ८१ में ही इस ग्रन्थ का खुल कर विरोध किया था परिणामस्वरूप गणधराचार्यजी आज तक ‘समन्वयवाणी’ बन्द कराने का स्वप्न संजोये बैठे हैं। कहीं आप भी उनके कोप-भाजन के शिकार न हो जाएँ, बचके रहिये।

नरेन्द्र प्रकाशजी का लेख ‘साधु-संस्था और चमत्कार’ भी मार्मिक बन पड़ा है। खेद है कि समाज के कर्णधारों का सब कुछ जानते हुए भी नामधारी साधुओं के प्रति मोह बना हुआ है जबकि आज अधिकांश साधुओं की दुकानदारी जन्तर-मन्तर के बल पर ही चल रही है। इसके बल पर ही नामधारी साधुओं में अनाचार जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म ले चुकी हैं। सुरेश सरल, गणेश ललवानी, डॉ. अनिल जैन आदि के लेखों ने भी प्रभावित किया है।

—‘समन्वय वाणी’, जयपुर

जरूर वाचावा

सर्व जैनांना अन्धश्रद्धा, मिथ्यारूढी, खोट्या कल्पना इत्यादीपासून सुटका मिळण्यास या मासिकाचा बहुमोल चालू अंक जादु-टोना/जन्तर-मन्तर विशेषांक जरूर वाचावा, संग्रही ठेवावा.

—पाक्षिक ‘धर्ममंगल’, जळगांव

अनाचार पर तीव्र आघात

‘टोना-टोटका विशेषांक’ अति उत्तम है और अन्धश्रद्धा के निर्मूलन के उद्दिष्ट को, आज के साधु-संस्था में चल रहे अनाचार पर तीव्र आघात कर, बहुत अंशों में पूरा करता है। इस विषय पर दूसरे मासिकों में जितना आया है, उसकी तुलना में आपके प्रहार तीव्रतर / असरकारी हैं।

—डॉ. सीमंधर म. मारवडकर, अमरावती

अद्भुत विशेषांक / संपादकीय से

असहमत

विशेषांकों की पंक्ति में ‘टोना-टोटका/जन्तर-मन्तर विशेषांक’ अद्भुत है—और वह भी जब आज का विश्व इन सबके पीछे दीवाना है इसका मूल्य और अधिक हो जाता है; किन्तु आपके संपादकीय से मैं पूर्णतः असहमत हूँ।

—प्रो. एम. एल. जैन, उज्जैन

कोसों दूर रहना चाहिये

‘लघुविद्यानुवाद’ की विस्तृत समीक्षा पढ़ कर आत्मीय ग्लानि हुई। पूज्य मुनिराजों/माताजी को ऐसे क्षुद्र प्रकाशनों से कोसों दूर रहना चाहिये; क्योंकि यह उनकी पद-प्रतिष्ठा के सर्वथा प्रतिकूल है। ‘तीर्थंकर’ सचमुच, अब शानदार/प्रभावक हो गया है/हो चुका है।

—मोतीलाल जैन विजय, कटनी

आगमानुकूल और निर्भीक

'तीर्थकर' में लेख आगमानुकूल, और निर्भीकता को लिये होते हैं। संपादक महोदय के प्रश्नोत्तर (इंटरव्यूज) पढ़ने योग्य होते हैं। इस बार जादू-टोना-सम्बन्धी विशेषांक ने तो वास्तव में मिथ्यात्व की धज्जियाँ उड़ा दी हैं तथा ममक्षुओं को सचेत कर दिया है कि वर्तमान में इस तरह के साहित्य के प्रकाशन भी नामधारी मुनि कराया करते हैं। 'तीर्थकर' को पढ़ने की उत्कण्ठा निरन्तर बनी रहती है।

—गम्भीरमल सोनी, फुलेरा

चेतना-परक मासिक

श्रेष्ठ लेखों / बातचीतों तथा बहुविध उपयोगी विषयवस्तु द्वारा आपने विशेषांक को अतिशय समृद्ध बना दिया है। विश्वास है स्फूर्त पाठक-वृन्द इसे पढ़ कर प्रेरणा प्राप्त करेगा। आज तो 'तीर्थकर' की पृष्ठ-दर-पृष्ठ सामग्री चेतना प्रदान करने लगी है। यही कारण है कि यह प्रखर राष्ट्र-वादी / चेतनापरक मासिक पत्र जैन समाज-सहित भारतीय समाज का प्रहरी/अग्रदूत है।

—श्रीमती विमला जैन, कटनी

काश हम चेत सकें

'तीर्थकर' का 'जन्तर-मन्तर/जादू-टोना विशेषांक' अद्भूत है। काश, इसे पढ़ कर हम/हमारी समाज अभी भी चेत सकें।

—जयकुमार जैन, अमरपाटन

प्रभावशाली और रोचक

'टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक' समग्र रूप में प्रभावशाली, रोचक एवं मननीय है। इसमें एक ओर जहाँ रूढ़िवाद और अन्धविश्वास पर प्रकाश डाला गया है, वहीं यह दूसरी ओर हमें आत्मचिन्तन/मनन की ओर भी प्रेरित करता है। 'लघुविद्यानुवाद'—संबन्धी लेख विशेष रूप से श्लाघनीय है।

—देवेन्द्र जैन, भोपाल

कई प्रश्नों का समाधान

आप 'आचार्य लघुविशेषांक' प्रकाशित कर रहे हैं; निश्चय ही यह अंक लोगों के मन में उभरने वाले कई प्रश्नों का समाधान होगा।

—रमेशचन्द्र जैन, दिल्ली

कई बार आँसू उमड़ आये

अंक अ से ह तक पढ़ डाला। इस विषय में गहराई तक पहुँचने का जो संपना था, उसे आप-जैसे चिन्तक-मनीषी द्वारा पूर्ण होता देख गद्गद हो उठी। मेरी आँखों में कई बार आँसू उमड़ आये। मिथ्यात्वों पर प्रहार करना यही पत्रकारिता की ईमानदारी मैंने हर अक्षर में पायी है। कई स्नेहीजनों को पत्र लिख रही हूँ कि वे यह विशेषांक मँगायें। इसका संग्रह आवश्यक है। इसे पढ़ें, औरों को पढायें।

—प्रा. सौ. लीलावती जैन, जलगाँव

विषय जटिल किन्तु चिन्तन तटस्थ

विशेषांक की तैयारी में बेहद परिश्रम हुआ है। इसने पाठकों, शोधकों तथा चिन्तकों का इस विद्या की ओर समीचीन ध्यान आकर्षित किया है। उन्हें इस जटिल विषय पर तटस्थ भाव से वैज्ञानिक धरातल पर सोचने और विचारने की दिशा दी है।

—प्रतापचन्द्र जैन, आगरा

अन्तस् कहीं अधिक सुन्दर

विशेषांक का बाह्य जितना साज-सजावट, खूबसूरती लिये हुए है, उससे कहीं अधिक उसका अन्तस् सत्य शिव सुन्दरम् से सम्पृक्त सचित्र विचारों/कथ्यों/तथ्यों से अनुप्राणित है। 'संपादकीय' में तो सच का सागर लहरें मारता है।

—डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, अलीगढ़

'तीर्थकर' : जून ८७

देखा और फिर देखा। डॉ. सुमन की कविता अनन्वय है। डॉ. दामोदर शास्त्री

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/८१

का लेख 'भारतीय संस्कृति और जैन-धर्म साधना' स्फूर्त, ठोस एवं प्रांजल है। आप तो बस एक जंगम सस्था हैं। आपने 'तीर्थंकर' द्वारा एक चिर सुषुप्त चैतन्य को शाणित किया है।

—डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन, मद्रास

विज्ञान/धर्म : समन्वय असंभव

जून अंक में आपने संपादकीय 'शान्ति की तलाश' में विज्ञान और धर्म में समन्वय है—ऐसा दिखाया है; लेकिन विज्ञान और धर्म में समन्वय हो ही नहीं सकता, क्योंकि दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और विरोधी हैं। धर्म की अधिकांश मान्यताएँ परोक्ष से संबन्धित हैं, जबकि विज्ञान प्रत्यक्ष को ही मानता है।

—लच्छीराम पूगलिया, कलकत्ता

सार्थक जीने की प्रेरणा

जून का अंक पढ़ा और पाया कि आपका हर अंक अनेक विशिष्टताओं को लिये हुए रहता है। संपादकीय 'शान्ति की तलाश' एवं 'आहार और समाज' बहुत ही सामयिक एवं विचारोत्तेजक हैं। आचार्य श्रीविद्या-नन्दजी महाराज का लेख 'संयम : नींव की पहली ईंट' में संयम का जीवन में महत्त्व के बारे में बड़ी सरलता से प्रतिपादित किया है। श्री मोतीलाल सुराणा और श्री नेमीचन्द्र पटोरिया से लो गयीं भेंटवाताएँ कर्मठ एवं सार्थक जीवन जीने की प्रेरणा देती हैं।

—देवेन्द्रकुमार कोचर, बिरलाग्राम (नागदा)

आँखें भर आती है

भाई गणेश ललवानी का लेख पढ़ा। उनका लिखना बहुत हृद तक ठीक ही है। आज हममें अन्तर्विरोध भर गये हैं। सब बड़े घरों में 'केक' आने लगा है। कहने पर भी अण्डे वो खाते हैं—कहते हैं—कहाँ दिखते हैं। सुन कर आँखें भर आती हैं।

—प्रतापसिंह बैद, सिलीगुड़ी

वक्त की गरज है

'तीर्थंकर' का दर्जा ऊँचा है। उसमें प्रकाशित साहित्य ऊँचे दर्जे का है। आज के समय की वह गरज है।

—माणिकचन्द संघई, औरंगाबाद

धर्म विज्ञान जुदा नहीं है

'जैनधर्म : विज्ञान की कसौटी पर' लेख में कई बिन्दुओं के साथ जमीकन्द पर भी विचार पढ़े। वैसे धर्म और विज्ञान दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों अनुभव की वस्तुएँ हैं। जमीकन्द में, विशेषकर प्याज में, तामसिकता का गुण-धर्म है। एक आलू के प्रत्येक रोम में से अंकुर निकलते हैं। प्याज में से भी केले की तरह पत्ते निकलते हैं। दूसरी वनस्पतियों की अपेक्षा जमीकन्द में हिंसा अधिक है; इसमें शंका नहीं। जब मैंने दुकान में आलू और प्याज बेचते-बेचते इनके सड़न-गलन की प्रक्रिया को देखा तो ऐसा सहज लगा कि ये वस्तुएँ त्याज्य हैं।

—धनसुख छाजेड़, डहाणू

Special issues are unparallel

विशेषांक अद्वितीय

On all India level basis, certainly so far as Jainism is concerned, there is no other better magazine than 'Tirthankar'. I go one step further and I am of the opinion that what this magazine has been contributing to the nation in general and to the Jains in particular for their life build-up with scientific approaches which is only possible through Jain-orientation, no other magazine can claim such a position. Its special issues are unparallel and they cannot be evaluated in terms of words.

— K. C. Bothra, Calcutta

—आचार्य श्री तुलसी ने कोलम्बो-समझौते को 'अहिंसा-की-विजय' निरूपित किया है। वे एक अगस्त को दिल्ली में 'व्यावहारिक जीवन में अहिंसा' विषय पर आयोजित एक संगोष्ठी में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। इसी अवसर पर जापान के राजदूत ईनियो नाडो ने एक 'जैन कला प्रदर्शनी' का उद्घाटन भी किया।

—५ अगस्त को कलकत्ते में सुप्रसिद्ध उद्योगपति साहू श्री अशोक कुमार जैन की अध्यक्षता में आयोजित दिगम्बर जैन महासमिति की एक महत्त्वपूर्ण बैठक में श्री जैन ने संपूर्ण जैन समाज को एकसूत्र में बाँधने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि हमें आपसी मतभेद छोड़ कर रचनात्मक कार्यों में तुरन्त लग जाना चाहिये। महिलाओं और युवकों को समन्वय और समाज-कल्याण के क्षेत्र में विशेष पहल करनी चाहिये।

—अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् (प्रबन्ध कारिणी) की दिल्ली में २९ जुलाई को आयोजित बैठक में तय किया गया कि परिषद् का आगामी अधिवेशन ३१ अक्टूबर और १ नवम्बर को भिलाई नगर में रखा जाए। बैठक में यह भी निश्चय किया गया कि अधिवेशन का मुख्य लक्ष्य समाज में सहिष्णुता की भावना को पुनरुज्जीवित करना हो।

—आगामी २५ और २६ अक्टूबर को दिल्ली में एक अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन किया गया है, जिसमें देश-भर के जैन पत्रकार जैन पत्रकारिता के बहुविध पक्षों पर विचार-विमर्श करेंगे। इस अवसर पर जैन पत्रकारिता की उपलब्धियों और संभावनाओं को ले कर एक स्मारिका भी प्रकाशित होगी। सम्मेलन में जैन पत्रकार वत्सल निधि, जैन पत्रकार भवन, केन्द्रीय जैन पुस्तकालय आदि की स्थापना पर भी विचार होगा।

—भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्री अशोक कुमार जैन ने कहा है कि कमेटी द्वारा प्रवर्तित 'तीर्थ वन्दना-रथ' सामाजिक एकता, नैतिक जागरूकता, और सांस्कृतिक सुरक्षा का जीवन्त प्रतीक है। उन्होंने कहा कि जो लोग इसे ले कर भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर रहे हैं वे इसके मूल उद्देश्य और स्वरूप से अपरिचित हैं।

—श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के तत्वावधान में २ से १६ अगस्त तक एक शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ६ और ७ अक्टूबर को हिन्दी के सर्व प्रथम आत्मकथाकार कविवर बनारसीदास पर एक सेमीनार हुआ। सेमीनार में दिल्ली, अलीगढ़, उदयपुर और जयपुर के साहित्यकारों और जैन मनीषियों ने हिस्सा लिया।

—प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, ७७/३७५ सरस्वती नगर, अम्बावाडी, अहमदाबाद १५ के एक परिपत्र में कहा गया है कि प्राकृत भाषा, साहित्य और जैन दर्शन के अध्ययन-अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से श्रेष्ठ श्री कस्तूरभाई लालभाई स्मारक निधि, अहमदाबाद की ओर से गुजरात विश्व-विद्यालय में एम.ए. में प्राकृत ले कर अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए चार सौ रुपए प्रतिमास की दो द्विवाषिक छात्रवृत्तियाँ आरम्भ की गयी हैं। फंड द्वारा प्रचारित एक अन्य परिपत्र में श्री श्वेताम्बर मूर्तिपूजक बोर्डिंग हाउस द्वारा दी जाने वाली छात्रवृत्तियों का विस्तृत व्यौरा दिया गया है। इस संबंध में अधिक जानकारी के लिए फंड के सचिव अथवा गुजरात विश्व-विद्यालय में प्राकृत और पालि विभाग के

समाचार - परिशिष्ट

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/८३

अध्यक्ष (भाषा साहित्य भवन, अहमदाबाद-९) से संपर्क करना चाहिये।

—श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई की एक विज्ञप्ति के अनुसार नवाँ जैन साहित्य समारोह आगामी नवम्बर मास में वडालीया सिंहण (जामनगर, गुजरात) में संपन्न होगा। विस्तृत कार्यक्रम की घोषणा जल्दी ही कर दी जाएगी।

—पुणे-स्थित सन्मति तीर्थ की एक सूचना के अनुसार डॉ. घाटगे ने 'वृहत् प्राकृत कोश' के संपादन का कार्य शुरू कर दिया है। वे इसे पाँच अन्य प्राकृत विद्वानों के सहयोग से भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में कर रहे हैं। उक्त कोश की तैयारी में लगभग १५ लाख रूपयों के खर्च का अनुमान है। फिलहाल सन्मति तीर्थ ने आरंभिक व्यय के लिए ५ लाख रूपयों का अनुदान मंजूर कर दिया है। प्राकृत के इस वृहत्कोश को तैयार करने में अभिधान राजेन्द्र कोश (राजेन्द्र सूरिश्वर), अर्द्ध-मागधी शब्द कोश (हिं.गुज. अंग्रे.; मुनि रत्नचन्द्रजी) तथा पाइअसहमहण्णवो (प्रा.हिं.; हरगोविन्द सेठ) के अलावा देश-विदेश में प्राप्य प्राकृत-वाङ्मय की दुर्लभ सामग्री का उपयोग भी किया जा रहा है।

—प्राकृत एवं जैन विद्या विषयक अध्ययन-अनुसंधान के लिए विगत आधी सदी से समर्पित पी.वी. रिसर्च इंस्टीट्यूट, वाराणसी के तत्त्वावधान में आगामी २८ से ३१ दिसम्बर तक ऑल इंडिया एसोसिएशन ऑफ प्राकृत एंड जैना स्टडीज का प्रथम सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है। सम्मेलन में जैन धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, कला, संस्कृति आदि के बहुविध पक्षों पर वर्गीकृत शोधपत्र पढ़े जाएँगे। यह सुखद संयोग है कि पी.वी.

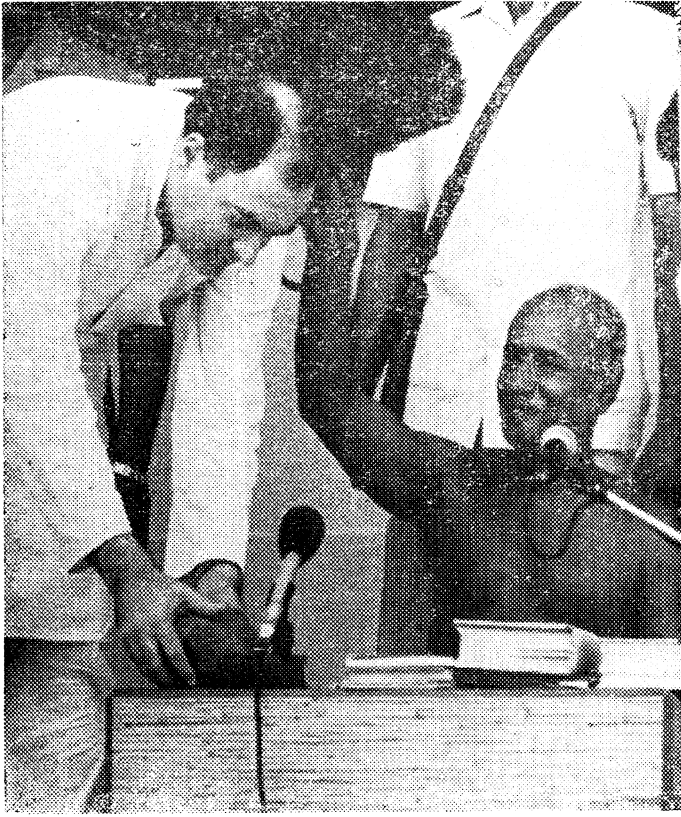
रिसर्च इंस्टीट्यूट भी इसी वर्ष अपना स्वर्ण ज यन्ती महोत्सव संपन्न कर रहा है।

—बाहुबली (कोल्हापुर, महाराष्ट्र) स्थित अनेकान्त शोधपीठ की गत ७ जून को संपन्न सालाना बैठक में पीठ के निदेशक डॉ. हरीन्द्र भूषण जैन ने संस्था का वार्षिक विवरण पेश करते हुए बताया कि पीठ के अन्तर्गत महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और कर्नाटक के १६ शोधार्थी जैन विद्या विषयक शोधकार्य कर रहे हैं। शोधपीठ की उज्जैन शाखा के अन्तर्गत पीएच.डी./डी.लिट् उपाधियों के लिए १० शोधार्थी पंजीयत हैं। शोधकार्य के नियमित संचालन के उद्देश्य से बाहुबली में सिद्धान्त भवन एवं अनेकान्त शोधपीठ की अध्ययन-शाला के स्वतन्त्र भवन-निर्माण का कार्य जल्दी ही पूरा हो जाएगा।

—गत २ अगस्त को आचार्य श्री सुरेन्द्र सूरिश्वरजी जैन तत्त्वज्ञान शाला, अहमदाबाद के तत्त्वावधान में सिद्धहेम संस्कृत व्याकरण की सहायक दुर्लभ कृति श्री क्रियारत्न समुच्चय ग्रन्थ का विमोचन समारोह संपन्न हुआ। उक्त ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण के अभ्यासियों के लिए बहुत उपयोगी है।

—अहमदाबाद के नारायणपुरा क्षेत्र में ताराबाई आर्याजी की शुभस्मृति में एक जैन तत्त्वज्ञान विद्यापीठ का शुभारम्भ किया गया है। विद्यापीठ का उद्देश्य जैन साधु-साधवियों तथा अन्य मुमुक्षु भाई-बहिनों को जैन तत्त्वज्ञान के अध्ययन तथा शास्त्राभ्यास की समुचित सुविधाएँ उपलब्ध कराना है। अध्ययनार्थियों की सुविधा एवं उनके मार्गदर्शन के लिए शाला में एक जैन विद्वान् को भी नियुक्त किया गया है।

—कलकत्ते में ५ जुलाई को श्री पारसमल जी काँकरिया का उनकी अविस्मरणीय समाज-सेवाओं के लिए भव्य अभिनन्दन किया गया। समारोह के प्रमुख वक्ता साहित्य-मनीषी श्री कन्हैयालाल सेठिया थे।



६ जुलाई को प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने श्री कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली के परिसर में प्राकृत भवन का उद्घाटन तथा आचार्यरत्न देश भूषण पुस्तकालय का शिलान्यास किया। चित्र में श्री गाँधी आचार्य श्री विद्यानन्दजी को श्रीफल भेंट करते हुए उनके शुभाशीर्वाद ग्रहण कर रहे हैं।

अपने उद्घाटन-भाषण में श्री गाँधी ने कहा कि संसार भौतिकता और विज्ञान के क्षेत्र में तो प्रगति कर गया है, लेकिन ज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ गया है। हमें ज्ञान को फिर से आगे लाना होगा और अहिंसा के प्रसार द्वारा विश्व को सर्वनाश से बचाना होगा। मुझे विश्वास है 'प्राकृत भाषा भवन'

से अहिंसा का प्रसार होगा और लोग सहिष्णुता का पाठ सीखेंगे।

आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने कहा कि प्राकृत भाषा और साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान से भगवान् महावीर की अहिंसा-भावना का प्रसार होगा और संपूर्ण मानवता निर्विघ्ने होगी।

(शेष पृष्ठ ८९ पर)

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/८५

और रोज-ब-रोज नयी उलझनें खड़ी हो रही हैं। कहा गया है : आचार्य अपने शिष्य में गो-वत्स-सा वात्सल्य रखे। बहुत जरूरी है कि इन तमाम सन्दर्भों में आज का आचार्य अपने गरेबां में आँख डाले और अपने शिष्यवर्ग के लिए मानक बने, आदर्श बने। स्थितिकल्पों में-से कई स्थितिकल्प ऐसे हैं, जिनका पालन आचार्य आज नहीं कर पा रहे हैं। हमारे पाठकों को चाहिये कि वे इन स्थितिकल्पों (दस) का पारायण करें और इन्हें शब्दकोश में यथास्थान देखें। यहाँ हम सिर्फ दो स्थितिकल्पों की चर्चा कर रहे हैं। ये हैं - शैयाधर-पिण्डत्याग, राज-पिण्ड-त्याग। शैयाधर का अर्थ है वसतिका (साधुवास) का स्वामी अथवा व्यवस्थापक। आचार्य को चाहिये कि वह वसतिका-के-स्वामी/प्रबन्धक का आहार न ले। ऐसा करने के पीछे मूर्च्छा, पूर्वग्रह, तथा स्वलना से बचने की भावना बहुत स्पष्ट दिखायी देती है। आज इसका पालन नहीं हो रहा है।

इसी तरह कहा गया है कि आचार्य को राज-पिण्ड नहीं लेना चाहिये। यहाँ 'राज' शब्द का अर्थ काफी व्यापक है। इसका अर्थ सिर्फ राजा नहीं है, अमीर भी है। कहा गया है कि एक आचार्य को किसी अमीर या राजा के यहाँ आहार नहीं लेना चाहिये। सोचें हम कि ऐसा आखिर क्यों कहा गया? क्या कारण है कि दस स्थितिकल्पों में एक यह भी है। स्पष्टतः आरंभ से ही ऐसी व्यवस्था की गयी है ताकि अस्वाद का बिना किसी गफलत या झंझट के पालन हो सके। जिह्वाजय, न्यूनभोजन, रसों-में-अगृह्यता आदि का निर्वह मर्यादाओं में ही संभव होता है। यही वजह है कि 'उत्तराध्ययन' में साफ-साफ कहा गया है कि साधु को प्रान्तकुलों में अर्थात् सामान्य घरों में/से आहार करना/लाना चाहिये। इसके दो लाभ हैं : एक, वह समाज के 'अन्तिम आदमी' के संपर्क में बना रहता है; दो, वह द्वितीय स्थितिकल्प के अनुसार उद्दिष्ट-आहार-के-अपराध से बच जाता है। राज-पिण्ड निश्चित ही विशिष्ट होगा - साधु को तो उससे बचना ही है।

जो नियम बने हैं, मर्यादाएँ कायम हुई हैं, उनके पीछे एक ही उद्देश्य है कि आचार्य/साधु आचारवान् बना रहे और समाज के लिए एक अदम्य प्रेरणा सिद्ध हो। वह एक ऐसी मशाल हो जो युगयुगों तक अकम्प/अखण्ड/अवृद्ध रहे। हमें विश्वास करना चाहिये कि हमारे वर्तमान आचार्य खुद को/अपने साधु-परिकर की आत्मसमीक्षा करें और प्रयत्न करेंगे कि समाज को अपने आचार से प्रभावित करेंगे और एक ऐसी परम्परा विकसित करें, जिसमें व्यक्ति को ऊपर उठने, एक-दूसरे के निकट आने, तथा अनुकरणीय आचार स्थापित करने में सहायता मिले।

एक बात बहुत साफ है : एक आचारवान् आचार्य ही आचारवान् साधु या आचारवान् श्रावक को अस्तित्व दे सकता है।

और इसी तरह एक आचारवान् श्रावक ही आचारवान् समाज की संरचना में सफल हो सकता है; इसलिए हर हालत में पहले चाहिये सदाचार।

— प्रलयंकर

आजीवन सदस्य

१७८. श्री निरंजन जैन
भरत बाहुबली निवास
सत भैया सदन
पो. सगरा रोड (दमोह) म.प्र.
१७९. श्री डी. बी. दमानी
प्लॉट नं. १४३-बी
सायन वेस्ट
पो. बम्बई-४०० ०२
१८०. श्री जे. थानमल जैन
नकोड़ा साड़ी सदन
५३९, एवेन्यू रोड (फर्स्ट फ्लोर)
महालक्ष्मी बिल्डिंग
टी. एन. सेट्टी लेन
पो. बेंगलूर-५६० ००२ (कर्नाटक)
१८१. श्री अजीतसिंह पगारिया
पी-११, न्यू हावड़ा ब्रिज अप्रोचरोड
पो. कलकत्ता-७०० ००१
१८२. श्री रवीन्द्रकुमार जैन
६/२, शास्त्री नगर (स्कीम नं. ७)
पो. मेरठ-२५० ००५ (उ.प्र.)
१८३. श्री महावीरप्रसाद पाटोदी
पो. भादवा (व्हाया फुलेरा जंक्शन)
जि. जयपुर (राजस्थान)
१८४. श्रीमती निर्मला विमलचन्द्र छाबड़ा
५३, मल्हारगंज मेनरोड
पो. इन्दौर-४५२ ००२ (म.प्र.)
१८५. श्री के. सी. बोथरा
दि बीकानेर वूलन मिल्स
४, श्रीनाथ कटरा
पो. भदोही (वाराणसी) २२१-
४०१ (उ.प्र.)
१८६. श्री मंत्री
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
जैन मन्दिर मार्ग, चौक
पो. भोपाल-४६२ ००१ (म.प्र.)
१८७. श्री राहुल-राजेश जैन
द्वारा : श्री ऋषभकुमार जैन
२, तिलक नगर
पो. इन्दौर-४५२ ००१ (म.प्र.)
१८८. डॉ. सीमंधर मारवडकर
यशोदानगर
पो. अमरावती-४४४ ६०६
(महाराष्ट्र)
१८९. श्री सूरजमल बच्छावत
२०, बालमुकुन्द मुक्कुर रोड
(मछुआ पोस्ट ऑफिस के पास)
पो. कलकत्ता-७०० ००७
१९०. श्री भैरवलाल बैद
तरुण टैक्सटाइल्स
२०३/१, महात्मा गाँधी रोड
पो. कलकत्ता-७०० ००७
१९१. श्री रणजीतसिंह बैद
३, बुडबर्न रोड
प्लेट नं. १०१३
पो. कलकत्ता-७०० ००१
१९२. श्री अशोक जैन
अशोक जनरल स्टोर
स्टेशन रोड
पो. खुरई-४७० ११७ (म.प्र.)
१९३. श्री अरविन्द जैन (बड़कुल)
स्टेशन रोड,
खुरई-४७० ११७ (म.प्र.)
१९४. श्री मनोजकुमार जैन,
रोड़ा वाले, नेहरू वार्ड,
खुरई-४७० ११७ (म.प्र.)

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/८७

(पृष्ठ ५१ का शेष)

स्थविर=वृद्ध; आचार्य; संघ-नायक; धर्म में खेद-भिन्न व्यक्तियों को प्रोत्साहित करने वाला।

स्थविरा=वृद्धा; आचार्य।

स्थितिकल्प=आचार्यगुण, ये संख्या में १० हैं—आचेलक्य, उद्दिष्ट आहार का त्याग, शैयाधर-पिण्ड-त्याग, राजपिण्ड-त्याग (अमीरों के भोजन का त्याग), कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता (अपने से अधिक की योग्य विनय), प्रतिक्रमण, मासैकवासता (छहों ऋतुओं में से एक मास-पर्यन्त एकत्र मुनियों का निवास, और पाद्य (वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक स्थान पर निवास); आगमोक्त साधु-सामाचार में अवस्थित होना।

स्वाध्याय=सत्शास्त्र का वाचन, मनन, तथा प्रवचन (इसे सर्वोत्तम तप कहा गया है); अंतरंग तप-भेद। □□

(पृष्ठ ५६ का शेष)

महावीर ने पंच महाव्रतों के साथ अणुव्रतों के उपदेश दिये। गाँधी नित्य-प्रति एकादश व्रत की प्रार्थना ही नहीं, साधना भी करते रहे। महावीर ने सत्य को धर्म का मूल माना, गाँधी का सम्पूर्ण जीवन ही 'सत्य-के-साथ-प्रयोग' है। महावीर ने अहिंसा को परम धर्म बताया, गाँधी का सम्पूर्ण जीवन उनकी समाज-साधना, उनका सत्याग्रह, उनके आर्थिक-राजनैतिक अभियान अहिंसा पर आधारित हैं। महावीर ने अहिंसा को व्यक्तिगत जीवन में सूक्ष्मता-पूर्वक लाने पर जितना जोर दिया, उतना पहले और बाद में भी किसी ने नहीं दिया। अहिंसा को संगठित कर उसे सामूहिक जीवन में दाखिल कर दिया। यह है गाँधी का अनोखा आविष्कार। महावीर ने ब्रह्मचर्य को अध्यात्म के लिए सर्वोपरि माना, गाँधी ने उसे गृहस्थ-जीवन में अपना कर सर्व-सुलभ बना दिया। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए समाज का परित्याग आवश्यक नहीं, वह तो गार्हस्थ्य में भी साधा जा सकता है। महावीर ने निर्वस्त्र हो कर अपरिग्रह का आत्यन्तिक पदार्थ-पाठ दिया, गाँधी ने अर्द्धनग्न रह कर भारत की दुःखी जनता के साथ आत्मीयता प्राप्त की, अपरिग्रह तो साधा ही। यही सब कारण है कि मैं गाँधी को वर्तमान युग का महावीर मानता हूँ। अपनी आत्मकथा के अन्तिम वाक्य में गाँधी ने जो लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि गाँधी वैष्णव कुल में जन्म हो कर पैदा हुए और ३० जनवरी को 'महावीर' की 'अहिंसा' का प्रचार करते हुए शहीद हुए।

—'कादम्बिनी'/अगस्त 1980 से साभार

आज ही मंगाइए

अध्यात्म-योगी सूक्ष्म तत्त्व-चिन्तक अजातशत्रु अणगार पूज्यपाद पंन्यास-प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य श्री का सात्त्विक और तात्त्विक अनमोल हिन्दी -साहित्य

महामन्त्र की अनुप्रेक्षा २०.००; नमस्कार मीमांसा ८.००; चिन्तन की चिनगारी ४.५०; परमात्म-दर्शन ५-००; चिन्तन के फूल ५.००; चिन्तन की चाँदनी ६.००; परमेषिष्ठ-नमस्कार (अप्राप्य); चिन्तन का अमृत ७.००; आपके सवाल, हमारे जवाब (प्रेस में) ।

परम पूज्य विद्वद्द्वय मुनिवर्य श्री रत्नसेन विजयजी म. का सरस-सरल एवं सुबोध हिन्दी साहित्य-

वात्सल्य के महासागर ४.००; सामायिक सूत्र विवेचना ५.००; चैत्य वंदन सूत्र विवेचना (अप्राप्य); आलोचना सूत्र विवेचना ६.००; वदित्तु सूत्र विवेचना ५.००; आनंदघन चोबीसी विवेचना २०.००; कर्मन की गत न्यारी ८.००; मानवता तब महक उठेगी ७.००; मानवता के दीप जलाएँ ८.००; युवानो! जागो (प्रेस में); रामायण और हमारी संस्कृति (प्रेस में) ।

प्राप्ति-स्थान व संपर्क-सूत्र

कांतिलाल मुणत, १०६, रामगढ़ आयुर्वेदिक हॉस्पिटल के पास, रत्तलाम (म.प्र.) ४५७ ००१

Shantilal D. Jain, C/o Indian Drawing Equipment Industries

Shed No.-2, Sicko Industrial Estate Ambattur, Madras-600 098

(पृष्ठ ८५ का शेष)

स्वागताध्यक्ष साहू श्रेयांसप्रसादजी ने प्रधानमंत्री का स्वागत करते हुए कहा कि आज देश और विश्व का जो वातावरण है उसे अहिंसा के प्रसार से ही संतुलित किया जा सकता है ।

इस अवसर पर प्रधानमंत्री को 'कुन्दकुन्द भारती' के समस्त प्रकाशन तथा 'जन मंगल कलश' की एक अनुकृति भेंट की गयी ।

—सोलापुर में ८ से १० अगस्त तक 'जैन बोधक' शतक महोत्सव समिति के

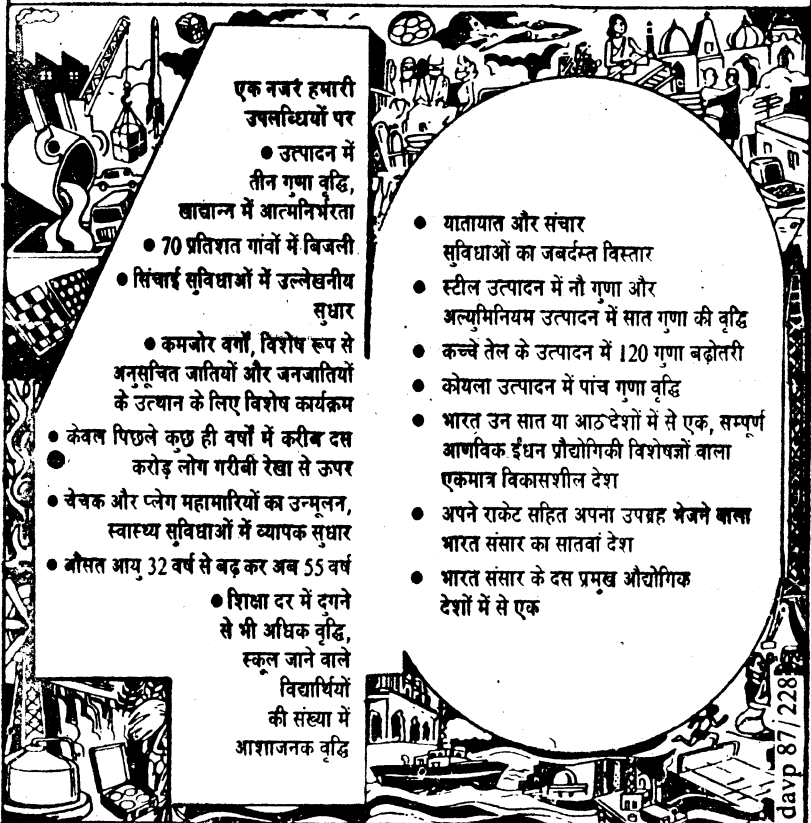
तत्त्वावधान में द्वितीय महाराष्ट्र जैन साहित्य सम्मेलन सफलतापूर्वक संपन्न हुआ ।

—मैनपुरी उत्तरप्रदेश में २८ अक्टूबर से ६ नवम्बर तक 'श्रमण भारती' का दशाब्दि-समारोह मनाया जा रहा है, जिसमें लगभग ६० विद्वान् इसमें भाग लेंगे, एक स्मारिका प्रकाशित होगी तथा कई सांस्कृतिक कार्य होंगे ।

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/८९

स्वतंत्र भारत के 40 वर्ष

पिछले चार दशकों में देश ने हर क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। हरेक देशवासी के सामने एक ही लक्ष्य है—मिलजुल कर देश को प्रगति की राह पर सबसे आगे ले जाना—



एक नजर हमारी उपलब्धियों पर

- उत्पादन में तीन गुणा वृद्धि, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता
- 70 प्रतिशत गांवों में बिजली
- सिंचाई सुविधाओं में उल्लेखनीय सुधार
- कमजोर वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उत्थान के लिए विशेष कार्यक्रम
- केवल पिछले कुछ ही वर्षों में करीब दस करोड़ लोग गरीबी रेखा से ऊपर
- चेचक और प्लेग महामारियों का उन्मूलन, स्वास्थ्य सुविधाओं में व्यापक सुधार
- नौसत आयु 32 वर्ष से बढ़ कर अब 55 वर्ष
- शिक्षा दर में दगने से भी अधिक वृद्धि, स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या में आशाजनक वृद्धि

- यातायात और संचार सुविधाओं का जबर्दस्त विस्तार
- स्टील उत्पादन में नौ गुणा और अत्यु्मिनियम उत्पादन में सात गुणा की वृद्धि
- कच्चे तेल के उत्पादन में 120 गुणा बढ़ोतरी
- कोयला उत्पादन में पांच गुणा वृद्धि
- भारत उन सात या आठ देशों में से एक, सम्पूर्ण आणविक ईंधन प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों वाला एकमात्र विकासशील देश
- अपने राकेट सहित अपना उपग्रह भेजने वाला भारत संसार का सातवां देश
- भारत संसार के दस प्रमुख औद्योगिक देशों में से एक

इन उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए हमने एक बहुत लम्बा रास्ता तय किया है। लेकिन हमें अभी भी महात्मा गांधी का सपना-पूरा करना है-हरेक आंख से आंसू पौछने हैं। वास्तव में, मंजिल अभी और दूर है। लेकिन अपनी इन उपलब्धियों पर हम गर्व से अपना सिर ऊंचा कर सकते हैं।

हमें अपनी प्रगति पर गर्व है।

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर के जीवन को

नई राह और नई रोशनी
देने वाले बहुमूल्य प्रकाशन

पिच्छि-कमण्डलु (परिवर्द्धित संस्करण)	आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि	११.००
निर्मल आत्मा ही समयसार	" " "	४.००
जैन ध्यान/जैन योग	(बातचीत : डॉ. नेमीचन्द जैन के साथ)	५.००
जिन-पूजा/जिन-मन्दिर	आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि	३.००
विद्यानन्द वचनमृत (भाग १,२)	संपादक - डॉ. नेमीचन्द जैन	१.००
		(प्रत्येक)
अहिंसा : विश्वधर्म	आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि	१.००
समय का मूल्य	" " "	१.००
परम तपोधन आचार्य श्री विद्यानन्द	-डॉ. नेमीचन्द जैन	७.००
सन्मति सूत्र	-आचार्य सिद्धसेन	१५.००
रयणसार (गुटका आकार)	आचार्य कुन्दकुन्द	५.००
छहठाला	पं. दौलतराम	३.००
भावकाचार की सहज कथाएँ	सुरेश सरल	५.००
नर्मदा के नरम कंकर	आचार्य विद्यासागर	५.००
चित्तौड़-दर्शन	नीरज जैन	५.००
नैतिक शिक्षा, भाग ४,५,६	पं. नाथूलालजी (प्रत्येक)	२.५०
ब्राह्मी : विश्व की मूल लिपि	डॉ. प्रेमसागर जैन	१०.००
	साधारण संस्करण	१०.००
	राज संस्करण	३०.००
द दू ध (अंग्रेजी)	अनु. 'मधुप'	४.००
महावीराष्टक के शिल्पी पं. भागचन्द	मिश्रीलाल जैन (प्रेस में)	७.००
भगवान् बाहुबली (काव्य)	सत्यनारायण जलधारी (प्रेस में)	३.००

सब पर डाक-व्यय पृथक्

पर्युषण पर्व को आध्यात्मिक ज्योति से जगमगाने वाले इन प्रकाशनों के लिए लिखें—

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ५५ सीतलामाता बाजार,
इन्दौर-४५२ ००२, मध्यप्रदेश

तीर्थकर : जुलाई-अगस्त ८७/९१

There is so much more to be achieved. Ideas are waiting to be born. Thoughts poised to break new ground. And linguistic contribution calls for something more. It calls for harmony of thoughts, conjunction of ideas and closeness of spirit.

Language has a common spirit. Keep it alive.

**COMPLIMENTS OF
THE TIMES OF INDIA GROUP**



S. Kumars®

A Trusted Name in

**'TERENE' & 'TERENE' BLENDED
SUITINGS ○ SHIRTINGS ○ SAREES**

Phone : 29 84 32 / 31 58 33

Grams : 'Ashokamills', Bombay 400 026

Telex : 011-2952

Registered Office :

S. KUMARS

"NIRANJAN"

99, Marine Drive, BOMBAY-400,002

तीर्थंकर : जुलाई-अगस्त ८७/९३

भारतीय ज्ञानपीठ

गौरवशाली प्रकाशन परम्परा में नये कीर्तिमान

- **गूंगे सुर बाँसुरी के** (कहानी संग्रह)—पन्नालाल पटेल
ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता गुजराती के विख्यात कथाकार पन्नालाल पटेल की चुनी गई श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह। 45/-
- **महाभारती** (उपन्यास)—डॉ. चित्रा चतुर्वेदी “कार्तिका”
महाभारत की प्रमुख नारी पात्र द्रौपदी के ओजस्वी व्यक्तित्व को उजागर करने वाली एक सशक्त कृति। 50/-
- **शान्तला** (उपन्यास) चार भागों में—सी. के. नागराजराव
कर्नाटक के होयसल राजवंश की तीन पीढ़ियों का समूचा जीवन-परिवेश प्रस्तुत करने वाला विशाल ऐतिहासिक उपन्यास। 45/-, 55/-, 55/-, 55/-
- **भारतीय कहानियाँ** : 1984—संपादन : बालस्वरूप राही
भारतीय भाषाओं में वर्ष 1984 में प्रकाशित कहानियों में से अग्रणी कथा-मर्मज्ञों द्वारा चुनी गई विशिष्ट कहानियाँ। कथाकारों के सचित्र परिचय-सहित। 55/-
- **भारतीय कविताएँ** : 1984—संपादन : बालस्वरूप राही
भारतीय भाषाओं में वर्ष 1984 में प्रकाशित कविताओं में से अग्रणी काव्य-मर्मज्ञों द्वारा चुनी गई 75 विशिष्ट कविताएँ। कवियों के सचित्र परिचय-सहित। 55/-
- **खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए** (काव्य-संकलन)—विनोद दास
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित नयी पीढ़ी काव्य-प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ घोषित काव्य-संकलन। 25/-
- **मुक्तिदूत** (पौराणिक उपन्यास)—वीरेन्द्रकुमार जैन
(मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार, 1984 से सम्मानित)
अंजना और पवनंजय की प्रसिद्ध कथा पर आधारित उपन्यास का नया संस्करण, नयी साज-सज्जा के साथ। 30/-

जैन साहित्य : नये प्रकाशन

○ Tiruvalluvar and his Tirukkural

TIRUVALLUVAR, the author of the KURAL is said to have lived in the first century A.D. All religionists including the Christians claim Tiruvalluvar, but the internal evidence in the Kural—his definition of truth, his insistence on Ahimsa, his exhortations on non-killing and non-eating of meat and doing of no harm to living beings as well as his invocatory chapters on ascetics, householders etc., in addition as also his chapter of ten verses on Godhead—seems to speak out in no uncertain terms that by birth, and most certainly by conviction, he was Jain.

This book undertakes to spell out the implications of the tenets found in Kural and to relate them to Jaina doctrine as they should be.

Written by Ka Naa Subramanyam, a distinguished Tamil Writer.
Price Rs. 45/-.

○ षट्खण्डागम परिशीलन

“षट्खण्डागम” “जैन दर्शन और सिद्धान्त” का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। परम्परा से आचार्य-कुलों में, साधु-श्रावकों एवं विद्वन्-मण्डलियों में इसका उच्चस्तरीय अध्ययन-परिशीलन होता आया है। “षट्खण्डागम परिशीलन” इसी दिशा में एक ऐसे विद्वान् के चिन्तन-मनन का सुफल है जिसने मूल ग्रन्थ और उसकी टीकाओं का आलोड़न किया है, उनका सम्पादन किया है। षट्-खण्डागम का अध्ययन उच्चतम एवं विशद स्तर पर जिन-जिन पहलुओं से किया जाना चाहिये वह सब प्रस्तुत परिशीलन में समाविष्ट है; जैसे—आगम-साहित्य की पृष्ठभूमि, ग्रन्थकारों और टीकाकारों की विवेचन-पद्धति, मूलग्रन्थ का विषय-परिचय, अन्य ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन, प्रमुख टीकाकार और टीकाएँ—इन सबका व्यापक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन और इतिहास। सोलह जिल्दों में प्रकाशित षट्खण्डागम और उसकी टीकाओं में प्रयुक्त परिभाषिक शब्दों की वर्णानुक्रम से विस्तृत सूची भी इस ग्रन्थ में नियोजित है।

जैन दर्शन के अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए एक अनुपम भेंट।

लेखक — पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। बड़ी सांझ के लगभग एक हजार पृष्ठों में मूल्य 120/-।

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड

नई दिल्ली - ११०००३

“यदि व्यक्ति स्वयं पर ध्यान दे और आचार्यों के इस वाक्यांश पर गौर करे—
 “जं सक्कदि तं कीरदि” अर्थात् जितनी शक्ति हो उतना ही करो, जो शक्य न हो
 उसके लिए निरन्तर पुरुषार्थ करते रहो तो विश्व में शान्ति और भाईचारे की
 सम्भावना फिर से खड़ी हो सकती है। जिस तरह और जितने अंशों में हम आत्म-
 घाती और पर-पीड़क व्यसनों को छोड़ेंगे, समाज उतनी ही जल्दी शुद्ध होगा, प्रगति करेगा।
 “स्वयं-सिद्ध है कि तामसिक आहार तामसिकता को जन्म देता है और सात्त्विक
 आहार सात्त्विकता को; इसीलिए हमें सात्त्विक खान-पीन को अपनाना चाहिये।
 अहिंसा, जो हमारी सांस्कृतिक बुनियाद है उसे ध्यान में रख कर शाकाहार को
 अपने जीवन में स्थान देना चाहिये।” —प. पू. आचार्य विद्यानन्द मुनिश्री



हमारे रेडिएटर्स निम्नलिखित गाड़ियों में श्रीरीजिनल इविवपमेंट के रूप में
 उपयोग में लाये जाते हैं—

- | | |
|---|---|
| <input type="checkbox"/> प्रीमियर पद्मिनी/प्रीमियर ११८ एन. ई. | <input type="checkbox"/> टाटा ट्रक |
| <input type="checkbox"/> महिंद्र जीप/महिंद्र ट्रैक्टर | <input type="checkbox"/> महिंद्र एन.सी. ट्रक |
| <input type="checkbox"/> एस्कॉर्ट्स ट्रैक्टर | <input type="checkbox"/> बजाज टैपो |
| <input type="checkbox"/> माहती बन | <input type="checkbox"/> डी.सी.एम. टोयाटा डायना |
| <input type="checkbox"/> आलिवन निसान | |

भारत रेडिएटर्स प्रा. लि.

ऑफिस : ८१, बजाज भवन, नरीमन पॉइंट, बम्बई-४०० ०२१

दूरभाष : २०२ ००८५/२०२ १४९७/२०४ ४९३८

फैक्टरी : विद्यानगरी मार्ग, सांताक्रुज (पूर्व), बम्बई-४०० ०९८

दूरभाष : ६१२ २९६५/६१२ ३४५७

दीक्षा के अयोग्य

जैन श्रमण का पद एक बहुत ही आदरणीय और उच्च नैतिक मापदण्ड का पद है; अतः उसे धारण करने वाले में कुछ विशेषताएँ होना आवश्यक है। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण-संघ में प्रवेश करने के अयोग्य माने गये हैं— १. जिसकी आयु आठ वर्ष से कम है; २. वृद्ध; ३. नपुंसक; ४. रोगी; ५. अंगहीन; ६. कायर या भीरु; ७. जड़बुद्धि; ८. चोर; ९. राज-विरोधी; १०. पागल; ११. अन्ध; १२. दास; १३. धूर्त; १४. मूढ़; १५. कर्जदार; १६. भागा हुआ या भगाया हुआ; १७. गर्भिणी स्त्री तथा बालक वाली स्त्री। दिगम्बर परम्परा में भी उक्त व्यक्ति मुनि-दीक्षा के अयोग्य माने गये हैं।

वर्षों को मत गिनो

- जो मुनि आगम-ज्ञान के अभाव में आचार्यत्व को प्राप्त हो जाता है, वह स्वयं को तो नष्ट करता ही है, दूसरों को भी नष्ट करता है।
- जो साधु पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दबाजी करता है, वह मदान्त हाथी के समान निरंकुश घूमता है और जल्दी ही तमाम संदर्भों में अविश्वसनीय हो जाता है।
- वर्षों को मत गिनो; क्योंकि साधुत्व में वर्ष नहीं गिने जाते—चरित्र की उत्कृष्टता गिनी जाती है। बहुत से अनासक्त धीर श्रमण तीन रात्रि-मात्र में सिद्ध हुए हैं।
- ज्ञान-विज्ञान से संपन्न एवं ध्यान, अध्ययन, और तप-से-संयुक्त तथा कषाय तथा गर्व-से-रहित मुनि जल्दी ही बड़ी-से-बड़ी बाधा पर विजय पा लेते हैं।
- मुनि को नींद पर विजय पानी चाहिये; क्योंकि निद्रा नर को अचेतन कर देती है। सोया हुआ श्रमण सभी दोषों में प्रवर्तित होता है।
- जैसे बाणकार किंचित् बंद किये नेत्रों से बाण को सीधा-सरल बनाता है, वैसे ही साधु एकाग्र भाव से मन को अ-वक्र और सरल बनाता है, उसे हर विषम स्थिति में नियन्त्रण में रखता है।
- जैसे धागा-सहित सुई प्रमाद दोष से भी खोती नहीं है, वैसे ही सूत्र-ज्ञान-से-संयुक्त पुरुष प्रमाद दोष से बचा रहता है, नष्ट नहीं होता।
- दुर्जन की तरह कभी भी/कुछ भी बोलने वाले शहरी नाले की तरह के साधु से हमेशा डरना चाहिये।
- घोड़े की लौद-के-समान अंतरंग में निम्ब और बाह्य में बगुले की तरह निश्चल साधुओं से क्या लाभ? वे तो निश्चय से स्वयं का और समाज का अहित ही करते हैं।
- ध्यान-तप कषायों को उसी तरह सहन नहीं करता जिस प्रकार आँव कूड़े-करकट को सहन नहीं करती; वे उसे भरसक बाहर फेंक देती हैं।
- जैसे आम छोटे संसर्ग से कटुता को प्राप्त होता है, वैसे ही आचरण-से-हीन और धर्म-में-आलसी श्रमण का आश्रय ग्रहण करने से श्रावकीय संतुलन और गौरव खण्डित होता है।